

मई, 2001

सात रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक

महिला लेखन



तुलसी चौरे पर जलता हुआ दीप

पंकज पराशर

तुलसी चौरे पर जलता हुआ दीप
बुझते-बुझते जल उठता है
जल उठता है हवा के मंद होते ही
अपनी पूरी लौ के साथ

दीप यूँ ही नहीं जलता था
दीप के साथ जलती थी
माँ की पसीने की वह बूंद
जो अक्सर टुलक जाती थी
माँ की नाक पर से
सनी हुई मिट्टी में

पूरे दिन की उपासी हुई माँ
पूरी तन्मयता के संग
जब सान रही होती मिट्टी
पिता मांग उठते गरम-गरम चाय
दादी के हुक्के की आग ठंडी पड़ जाती उसी वक्त

पूरे दिन की उपासी हुई माँ
जब बना रही होती नन्हा-नन्हा दीप
जब बना रही होती नन्ही-नन्ही बाती
चीख उठता उसी वक्त
कुछ ही देर पहले सोया हुआ नन्हा राजेश
गूँज उठती दादी की उससे भी तेज आवाज

पूरे दिन की उपासी हुई माँ
जब डाल रही होती दीपक में तेल
सीधी कर रही होती बाती
फुआ आवाज देती ढेकी वाले घर से-
'धान कब कूटा जाएगा?'
बाबा घर सिर पर उठा लेते-
पान के लिए

पूरे दिन की उपासी हुई माँ
जब नहा रही होती कुएं पर
गुनगुना रही होती- 'सांझ बीतल जाइए'
पापा को जल्दी पड़ी रहती
टार्च की
चाचा को जल्दी पड़ी रहती
लोटे की



पूरे दिन की उपासी हुई माँ
जब जलाती पूरे मनोयोग से दीप
नन्हे राजेश की तरह मान-मनौवल करते हुए
थोड़ी देर चिट...चिट...चिट...चट...चट...चट करता दीप
जल उठता पूरी लौ के साथ

पूरे दिन की उपासी हुई माँ
जब आंचल की ओट में छिपाती हुई
हवा के तेज झोंकों से बचाती हुई
तुलसी चौरे पर रखती दीप
सरसराने लगता तुलसी का गाछ
फड़फड़ाने लगते पतंगे
मुंद जातीं माँ की दोनों आंखें
झर...झर...झर झरने लगता सिंगरहार
दोनों होठों को दबाकर लाख रोकने के बावजूद
छलक ही आती अश्रुधार

आंगन के बीचों-बीच
तुलसी चौरे के एकदम समीप
झोलंगा खाट पर सोया हुआ
मैं सोच रहा हूँ बार-बार
कोशिश कर रहा हूँ समझने की बार-बार
रोज सांझ को दीप जलाती हुई माँ
दीप जलाती थी या खुद को?

आजकल कौन जलाती है दीप
मैंने सोचा- अभी उठूंगा और पूछूंगा किसी से
चिट...चिट...चिट...चट...चट...चट करते हुए
बुझते-बुझते जल उठता है
अपनी पूरी लौ के साथ
तुलसी चौरे पर जलता हुआ दीप!

लेख

6. साहित्य में स्वचेतना और स्त्री

समकालीन हिंदी कहानी जितने व्यापक परिमाण और बहुआयामी यथार्थ संदर्भों में रची गढ़ी जा रही है, उसमें बराबरी की सहभागिता और अपनी पहचान अर्जित करने में इस देश की अब तक लगभग परतंत्रता में जी रही आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री सृजनात्मकता का समर्पित योगदान उपेक्षणीय नहीं है। समकालीन महिला लेखन का विवेचन प्रस्तुत कर रही हैं **वित्रा मुदगल**

13. नारी विमर्श की पुरोधा : महादेवी वर्मा

महादेवी की कविता की अपेक्षा उनका गद्य अभी भी अपनी ताजगी नहीं खो सका है। और इसी ताजगी का नमूना है उनकी एक अद्भुत गद्य रचना **शृंगला की कड़ियां** जो स्वतंत्रता से पूर्व लिखी जाने पर भी स्त्री-विमर्श का सुंदरतम दस्तावेज है। छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा के गद्य लेखन पर **मृदुला जुगरान**

28. नारी चेतना और महिला उपन्यासकार

इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर हिंदी की महिला उपन्यासकारों के क्रांतिकारी आगमन से हिंदी उपन्यास में नवीन मोड़-सा आ गया है। इन लेखिकाओं ने समय के बदलते मूल्यों के साथ नारी के बदलते स्वरूप का चित्रण किया है। परंपराओं और रूढ़ियों से वे अपना दामन छुड़ाना चाहती हैं। नारी चेतना के संदर्भ में महिला रचनाकारों के उपन्यासों की चर्चा कर रही हैं **हेमा देवराणी**

35. महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में महिला समस्याएं

वैचारिक व जीवनमूल्यों के मूलगामी परिवर्तन के इस दौर में इतिहास से लेकर वर्तमान तक के उपेक्षित, अवमानित व तिरस्कृत पात्रों की ओर आम नजरिया बदला है। इसी के साथ-साथ महिला उपन्यासकारों के भीतर भी ऐसे पात्रों के प्रति मानवीय करुणा व सहानुभूति फूटती दिखाई देती है। महिला समस्याओं को लेकर लिखे गए महिला रचनाकारों के उपन्यासों का विवेचन **मृत्युंजय उपाध्याय** द्वारा

39. नारी जीवन की स्मृति, स्थिति एवं नति

मृत्यु को स्वीकारना सभी के लिए आसान कार्य नहीं। कृष्णा सोबती के लघु उपन्यास **ऐ लड़की** में ऐसी एक स्त्री की जिंदगी उन लोगों की बातों से स्पष्ट हो जाती है जिन्होंने जीवन को उसकी तमाम जीवंतता और कदुता के साथ खुले आम स्वीकार किया है। नारी मुक्ति के संदर्भ में इस उपन्यास का विवेचन प्रस्तुत कर रही हैं **पद्मिनी के.पी.**

41. हिंदी की प्रथम महिला नाटककार

हिंदी की प्रथम महिला नाटककार की तलाश में बहुत खोज के बाद एक नाम मिलता है लाली देवी का। हिंदी की प्रथम महिला नाटककार का परिचय दे रही हैं **आरती वर्मा**

साक्षात्कार

21. पांच प्रतिशत स्त्रियां भी

खुलकर नहीं बोल पातीं !

डोगरी कवयित्री पद्मा सचदेव से **विकास द्विवेदी** की बातचीत

कहानी

17. कोलंबस की यात्रा

मीराकांत

31. मां (गुजराती)

कुंदनिका कापड़िया

43. एक और भगोड़ा

सुधीर शाह

कविताएं

आवरण II. तुलसी चौर

पर जलता हुआ दीप

पंकज पराशर

आवरण III. तीन कविताएं

पुष्पिता

24. तीन गीत

बालस्वरूप राही

26. दो कविताएं

जसकिंदर शर्मा

दो कविताएं

ममता उपाध्याय

27. दो कविताएं

कविता

हत्यारे का बयान...

सुखंत सुमित्र

42. पांच कविताएं

संज्ञा सिंह

पुस्तक चर्चा

44. उत्तर आधुनिक समाज

में स्त्री-विमर्श

देवेन्द्र चौबे

रत्नांश

2. पत्र

47. समीक्षा

वर्ष : 58; अंक : 1; पूर्णांक : 679;
मई 2001, वैशाख-ज्येष्ठ - 1923

प्रधान संपादक

सुभाष सेतिया

सहायक संपादक

योगेंद्र दत्त शर्मा

उप संपादक

रेमी कुमारी

आवरण : राजा रवि वर्मा की कृति

अंतिम आवरण : मनीष वर्मा

आवरण सज्जा : राबेंद्र कुमार टंडन

संपादकीय पत्र व्यवहार :

संपादक आजकल प्रकाशन विभाग,

पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001,

दूरभाष : 3387876 फैक्स : 3387876

E-Mail: Indiapub@nda.vsnl.net.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : डी.एन. मांभी

चंदे की दर :

एक प्रति : 7 रुपये; वार्षिक : 70 रुपये;

दो वर्ष : 135 रुपये; तीन वर्ष : 190 रुपये

विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष

पड़ोसी देश : 500 रुपये

शेष विश्व : 700 रुपये

चंदे संबंधी पुष्टताएं :

प्रकाश चन्द आहुजा

विज्ञापन व प्रसार व्यवस्थापक

पूर्वी ब्लॉक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,

नई दिल्ली-110066 दूरभाष : 6105590

हमारे विषय बॉर्ड

(यहां वार्षिक बंदा जमा कर सकते हैं।)

नई दिल्ली : बुक गैलरी, पटियाला हाउस;

दूरभाष : 3387983

सुपर बाजार कनाट प्लेस,

दूरभाष : 3313308

दिल्ली : बुक शाप, पुराना सचिवालय;

दूरभाष : 3968906

लखनऊ : 27/6 राममोहन राय मार्ग,

दूरभाष : 208004

कलकत्ता : 8, एम्प्लेड ईस्ट;

दूरभाष : 2488030

पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक

बिल्डिंग, अशोक राजपथ;

दूरभाष : 653823

मुंबई : कामर्स हाउस, करीब भाई रोड,

बालाई चार, दूरभाष : 2610081

तिरुवनंतपुरम; गवर्नमेंट प्रेस के विकट;

दूरभाष : 330650

हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग,

पब्लिक गार्डन; दूरभाष : 236393

चेन्नई : राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष

: 4917673

बंगलौर : एक किंग, केंद्रीय सदन, कोरायंगला

दूरभाष : 5537244

टाइपसेट : ज्योति लैज़र टाइपसेटिंग

आजकल



संवेदनहीन समय में

● जनवरी अंक की सामग्री में वह कुछ है ही नहीं, जिसके लिए चंद पंक्तियां खर्च की जा सकें। अलबत्ता मुख्य और पीछे के आवरण पर छपी तस्वीरें इस कदर खूबसूरत हैं कि अनायास ही धन्यवाद देने का खयाल आया। जिस किसी ने भी ये पृष्ठ तैयार किए, उनकी दृष्टि और चयन की खोजी कलात्मकता की प्रशंसा करनी होगी। क्या एक संवेदनहीन वक्त में किसी फूल पर अटकी ओस की (या शायद आंसुओं की भी) दो बूंदें संवेदनाओं और प्राकृतिक कोमलता के लिए मानव हृदय को आंदोलित नहीं कर सकतीं! अफसोस कि अब ये दृश्य इस भीषण प्रदूषण में शायद केवल गांवों या फिर केवल कवर पृष्ठों पर होंगे। प्रदूषित हवा के योग से तो ये प्रकृति मां के आंसू भी काले पड़ जाएंगे और इस फूल की शुभ्रता पर वह काली धारी कैसी लगेगी? कृपया राजेंद्र गायकवाड़ की अपेक्षा अन्य चित्रकार की

खोज भी करें। जो कुछ भी तस्वीर/ ग्राफिक/ कोलाज रहता है, उसमें वैविध्य की जरूरत है। गायकवाड़ भी अन्य तरीकों से अभिव्यक्ति का विकल्प आजमा सकते हैं।

—मयंक कुमार, बेगूसराय

छलावा

● ज्यादातर कहानियों को पढ़कर मैं सारांश पा लेता हूँ। पर क्षितिज शर्मा की 'छलावा' अक्षरशः पढ़ गया, पढ़ते-पढ़ते डूबता गया। कथानक को पकड़ने की कोशिश में पुनः गोते लगाता रहा कि छलावा कहां है। दरअसल वह अनेक छलावों की कथा है। अनेक को पकड़ पाना असंभव है। हम सब भी तो कहीं-कहीं किसी न किसी रूप में छलावा हैं।

स्व. वीरेंद्र मिश्र पर प्रदीप पंत का यथार्थवादी शैली में लिखा आलोचनात्मक आलेख पढ़कर पाया कि समाज और देश में छलियों, प्रपंचियों, शोषकों, नकाबपोशों, बहुरूपियों का डटकर मुकाबला वीरेंद्र जी जैसे यथार्थवादी कवि ही कर सकते हैं, चाटुकार नहीं। जो कवि अंदर से चर्चित होकर भी बाहर से अचर्चित बना रहा, उसे प्रकाश में लाने का दायित्व हर साहित्यकार का है। प्रदीप जी इसलिए भी धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने वीरेंद्र मिश्र जी की चोटदार चेतनावदी साहित्यिक कविताओं से हमें परिचित कराया।

—सूर्यदीन यादव, नडियाद (गुजरात)

नई शैली का जन्म

● संपूर्ण पत्रिका में तीन जगह मेरी निगाह रुकी, जिनकी चर्चा मैं यहां करना चाहूंगा। प्रथम- 'पत्र स्तंभ', द्वितीय- क्षितिज शर्मा की कहानी 'छलावा', तृतीय- रूपसिंह चंदेल द्वारा की गई उपन्यास केंद्रित चर्चा।

पत्र-स्तंभ तो खैर स्थायी स्तंभ है, फिर भी इस हेतु मैं इतना कहे बिना नहीं रह पा रहा हूँ कि आप अपनी पत्रिका में इतने सारे पत्रों को शामिल करके एक उल्लेखनीय कार्य करते हैं, जो बहुत-से पाठकों में एक उत्साह सर्जित करने में सफल हो पाता है।

क्षितिज शर्मा की कहानी 'छलावा'। जीवन के चौबीस-पच्चीस वर्षों को वह अपनी कहानी में समेट पाने में सक्षम हो पाए हैं। नायक चंद्रप्रकाश और नायिका वसुधा के मार्फत वह अपने कथ्य को स्पष्ट कर पाने में सफल हैं। कहानी में झन्नाटेदार यदि कोई पंक्ति है तो वह है वसुधा द्वारा अपने पूर्व प्रेमी को यह कहना कि- 'आप कहीं और रहने का प्रबंध नहीं कर सकते?' वसुधा और उसके पति योगेश के बीच चंद्रप्रकाश का फंसा होना उसके अंतर्द्वंद्व को स्पष्ट करता है। पूर्णानंद जी को कहानी के बीच में बार-बार लाकर वह कहानी को एक मोड़ देते हैं- जो अपने आप में एक नई शैली को जन्म देता है। कुल मिलाकर कहानी स्वाभाविक प्रतीत होती हुई प्रशंसनीय है।

रूपसिंह चंदेल ने अपनी उपन्यास केंद्रित चर्चा में वर्तमान काल के उपन्यासों की वापसी काल कहकर उपन्यासों का जो बारीकी से ब्यौरा दिया है वह काबिले तारीफ है। किंतु अपनी चर्चा के केंद्र में इस सदी के अंतिम दशक के उपन्यास को रखकर भी वह स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास के मोहपाश से बहुत अधिक क्षण के लिए बाहर नहीं निकल पाए हैं। जबकि इन उपन्यासों पर बहुत अधिक और बहुत जगहों पर लिखा जा चुका है। यदि वह अपने को सदी के अंतिम दशक में बांधकर रख पाते, जिसमें कि वह अपने आप को मात्र एक पैराग्राफ के लिए ही बांधकर रख पाए हैं, तो यह 'विमर्श' और अधिक नई जानकारी दे पाने में सक्षम हो पाता।

—जयंत दामची, दिल्ली

सशक्त सामग्री

● 'मन खोया-खोया, आंखें कुछ भरी-भरी' तथा 'लय की यात्राओं के अंत में स्वर का ही गीत लय नहीं होगा' सामग्री काफी सशक्त लगी।

कविताओं का चयन अत्यंत सराहनीय है और यह कार्य वही कर सकता है जो स्वयं एक अच्छा रचनाकार होगा। सुंदर कलेवर, सशक्त एवं सुपाच्य सामग्री के लिए एक बार फिर आप मेरी ओर से बधाई स्वीकार करें।

—सतीश आर्य, गोंडा

थोड़ी चूक-सी

● काम सृष्टि का मूल उत्स है, तो वासना काम का ही प्रस्फुटन। दिनकर की 'उर्वशी' एक ओर पुरुष मन की अहम्पन्यता, एकाधिकार, शक्तिसंपन्नता, कामुकता एवं निर्वेद की विशद व्याख्या करती है तो दूसरी ओर नारी के श्रद्धामय तर्कमय रूपों की। सृष्टि की जड़ता (!) एवं चेतनता (!) प्रकृति की रहस्यमयी गतिविधियों की द्योतक

हैं। अपने कथानक, उद्देश्य, कलात्मक नैपुण्य, मानवीय अंतर्वृत्तियों की विशद विश्लेषण क्षमता, दार्शनिक प्रौढ़ता और आध्यात्मिक उत्सर्ग के कारण ही उर्वशी दिनकर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। मंजुला राणा का उर्वशी पर आलेख अच्छा तो है, मगर पढ़ते हुए लगता है कि हम उर्वशी की व्याख्या नहीं, वरन् 'ओशो के दर्शन' को पढ़-बाँच रहे हैं। लेखिका विशद व्याख्या करने में थोड़ी

चूक-सी गई हैं। सुंदर चंद ठाकुर की कविताएं अपनी बनावट में जितनी सहज हैं, उतनी ही गंझिन अर्थ-स्तरों से भरी हैं। इनमें लय और अंतरालों में जो अर्थ संप्रेषित होते हैं, वे हिंदी कविता के विकास को सूचित करते हैं। शेष कविताएं सिर्फ पठनीय हैं, संप्रेषणीय नहीं।

क्षितिज शर्मा की कहानी 'छलावा' कथ्य की मर्मस्पर्शिता और अनूठे भाषिक बनाव के कारण नया आस्वाद देती है।

अबराar रहमानी का शहीद अशाफाक उल्ला खां पर भावभीनी श्रद्धांजलि भरा आलेख दिल को छू गया..., जिसके कारण यह अंक संग्रहणीय है।

-एहल झा, मुंगेर

मन खोया-खोया

● उर्वशी महाकवि दिनकर की एक अनूठी कृति है। प्रेम शाश्वत है। प्रेम चेतना गतिशील है, क्रियाशील है, जीवंत है, मर्मभेदी है। मंजुला

आजकल

का अब आप 2 व 3 वर्ष का चंदा भी एक साथ जमा कर सकते हैं

मैं आपकी पत्रिका *----- का ☐ एक वर्ष (रु. 70)

☐ दो वर्ष (रु. 135) ☐ तीन वर्ष (रु. 190) का ग्राहक बनना चाहता हूँ**

चंदे का रु. ----- डी.डी./भारतीय पोस्टल आर्डर/

मनिआर्डर सं-----दिनांक-----संलग्न है।

हस्ताक्षर -----

नाम :-----

पता :-----

पिन :

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : बाल भारती, आजकल (उर्दू), कुरुक्षेत्र (हिंदी व अंग्रेजी), योजना (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)। पत्रिकाओं की चंदे की दरें:

एक वर्ष : रु. 70.00, दो वर्ष : रु. 135.00, तीन वर्ष : रु. 190.00

● कृपया अपना चंदा डी.डी./पोस्टल आर्डर/मनिआर्डर निदेशक, प्रकाशन विभाग, के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● किसी भी जानकारी के लिए लिखें: विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लॉक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

* पत्रिका का नाम

** कृपया जितने वर्ष का चंदा जमा करना चाहें उस पर निशान लगा दें। और यह फार्म भरकर : विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, ईस्ट ब्लॉक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 के नाम भेजें। टेलीफोन : (011) 6105590

राणा ने बड़े ही मोहक एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से उर्वशी के शृंगार पक्ष की व्याख्या की है। इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि दिनकर के काव्य में प्रेम में अद्भुत सामंजस्य एवं निर्मल अखंडता की सुगंध व्याप्त है।

-उमेश पंडित उत्पल, धनबाद

अधकचरी सूचना

● उपन्यासों पर चर्चा एक सर्वेक्षण जैसा होकर भी अधूरा है। अच्छा हो, जब भी ऐसी चर्चा करनी हो, तो संपादक / लेखक संबद्ध पत्र में पूर्व सूचना देकर नए लेखकों की भी किताबें मंगा लें, जो स्पांसरशिप के अभाव में अचर्चित रह जाती हैं। एक बात और। समीक्षक इन पुस्तकों को पढ़ें जरूर या एक 'लैब' तैयार रखें, जहां सहायकों से 'फीडबैक' लेकर ही समीक्षा लिखें। अन्यथा लेख में जगह-जगह उनकी अधकचरी सूचना खटकती रहेगी। ऐसी ही एक बार आजकल के युवा कथाकार विशेषांक में शायद गोपाल राय के लेख में झलक थी।

-अनिलचंद्र ठाकुर, कटिहार

चर्चा उपन्यास की

● 'चर्चा अब उपन्यास केंद्रित होगी, लेकिन...' पढ़कर तस्सली हुई। सहमत भी हूँ कि जीवन के अनुभव को चंद पंक्ति या शब्दों में कसना आसान नहीं और इसलिए उपन्यास सार्थक पहल के रूप में सामने आ रहा है। उपन्यासों के माध्यम से जीवन की घटनाओं को

रेखांकित करना और बड़े लेखकों के उपन्यासों का लेखा-जोखा रखना उपन्यास की साहित्य क्षेत्र व सदी की एक सार्थक उपलब्धि मान लेनी चाहिए?

बड़े साहित्यकार या बड़े प्रकाशक इस बात का जबाब देंगे की उनका साहित्य कितने पाठक पढ़ते हैं। पुस्तकों का आसमान छूता मूल्य आम मध्यवर्गीय पाठकों को पुस्तक से दूर कर रहा है। इस स्थिति में सिर्फ धनाढ्य पाठक तक ही अच्छी पुस्तक पहुंच पाती हैं।

छोटे स्थानों पर पुस्तक की अनुपलब्धता भी एक कारण है। ऐसी स्थिति में उपन्यास या अन्य विधा (कविता-नाटक) को सदी का शब्द देना बेमानी-सा प्रतीत होता है।

आज लेखक, प्रकाशक व पाठक के बीच सामंजस्य स्थापित करने का समय है जिससे कलम से निकला साहित्य पाठक के हाथों तक पहुंचे और कहीं ऐसा न हो कि आने वाला कल चंद हाथों या चंद टेबुलों तक ही उपन्यासों, कविताओं, कहानियों का दायरा बन जाए।

-तरुण चंद्र राय, धनबाद (झारखंड)

निष्पक्ष मूल्यांकन

● विमर्श में- 'चर्चा अब उपन्यास केंद्रित होगी लेकिन' यद्यपि दृष्टि स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य पर केंद्रित है तथापि सदी के पूर्वार्द्ध से लेकर अंतिम दशक तक के

उपन्यास साहित्य पर जो गंभीर एवं सुचिंतित चर्चा रूपसिंह चंदेल ने प्रस्तुत की है, वह स्तुत्य है।

उपन्यास साहित्य पर कुछ चर्चाएं अन्यत्र भी प्रस्तुत हुई हैं किंतु प्रेमचंद से लेकर सदी के अंतिम दशक में चर्चित हुए दलित उपन्यास साहित्य के विकास में कथ्य एवं संरचनागत जो बदलाव प्रस्तुत हुआ है, उसे लेखक ने सुनियोजित एवं निष्पक्ष दृष्टि से मूल्यांकित किया है। हिंदी उपन्यास साहित्य के शोधार्थियों के लिए भी यह लेख पठनीय है।

-निर्मला अग्रवाल, इलाहाबाद

ज्ञानवर्द्धक लेख

● 'चर्चा अब उपन्यास केंद्रित होगी लेकिन...' शीर्षक लेख बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्द्धक था। इसमें चंदेल जी ने आने वाली सदी को उपन्यासों की सदी कहा है। इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। यह वर्ष औपन्यासिक रचनात्मकता का विस्फोटक वर्ष था। आज गद्य की समस्त विधाओं में सबसे ज्यादा रचनाएं उपन्यास विधा में हो रही हैं। आज हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में सचमुच क्रांति-सी आ गई है।

यह बात सच है कि आज के उपन्यासों में प्रेमचंद तथा उनके पूर्ववर्ती-परवर्ती उपन्यासकारों जैसा कुछ बहुत कम ही मिलता है। लेकिन यह भी सच है कि आज भी अच्छे उपन्यास लिखे जा रहे हैं और आज भी ऐसे उपन्यासकार हैं जो प्रेमचंद के उपन्यासों से प्रेरणा

लेकर समाज के आदर्शवादी यथार्थ को अपनी रचना में चित्रित कर रहे हैं।

मंजुला राणा ने 'मन खोया खोया...' में राष्ट्रकवि दिनकर की रचना उर्वशी के माध्यम से प्रेम की व्यापकता को लौकिक और अलौकिक- दोनों स्तरों पर दिखाया है और प्रेम की महत्ता को स्वीकारते हुए उसे जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य घोषित किया है।

अंक की सभी कहानियां और कविताएं भी रोचक थीं। कहानियों में 'छलावा' शीर्षक कहानी विशेष प्रिय लगी। इस कहानी में एक व्यक्ति के प्रेम-विह्वल हृदय की व्यथा का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया गया है।

-राधिका कुमारी, आरा

लाभान्वित किया

● रूपसिंह चंदेल जी के स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास पर विचार-विमर्श ने एक साथ कई उपन्यासों का सार देकर लाभान्वित किया है। सच्चाई बस यही है कि समय के साथ-साथ साहित्यिक विधाओं में भी परिवर्तन हुआ है और आगे भी ऐसा होता रहेगा। अलग-अलग विषय समयानुरूप अपना स्थान बनाते ही रहेंगे।

वस्तुतः एक कटु सच्चाई यह भी है कि कोई दलित रचनाकार ही अपनी भावनाओं को सही अर्थों में दलित साहित्य के अंतर्गत व्यक्त कर सकता है।

साहित्य में विज्ञान बनाम विज्ञान में साहित्य

● चर्चा साहित्य से शुरू हो और वह भी 'साहित्य में विज्ञान' पर तो उत्सुकता स्वाभाविक है। हरिश्चंद्र भारतीय जी के लेख की प्रशंसा होनी ही चाहिए। आई.ए. रिचर्ड्स ने इससे भी एक कदम और आगे जाकर 'विज्ञान और साहित्य' नाम से ही ग्रंथ तैयार किया था, उल्लेखनीय यह है कि रिचर्ड्स महोदय भी वैज्ञानिक थे और विज्ञान से ही वह साहित्य में आए। लेखक ने सोदाहरण प्रमाणित किया है कि आज के 'विज्ञान सम्मत दिखावाकरण' के युग में साहित्यकार बिना जाने ही तथ्यों पर कथ्य करने लगे हैं। विज्ञान की हिंदी पत्रिका *विज्ञान प्रगति* में छपने वाले कथा-गल्पों की नकल पर भी कुछ लोग 'अवैज्ञानिक साहित्य' लिख रहे हैं। सौभाग्य से *आजकल* में अभी तक ऐसी नकली कथाएं नहीं दिखी हैं।

यह वास्तव में बहुत मजेदार है कि एक ओर तो लोग खाने-पहनने, ओढ़ने-बिछाने, चलने-बोलने में खुर्दबीन से वैज्ञानिकता खोज रहे हैं, साहित्यकार भी अपने शब्दों, वाक्यों, प्रोक्तियों व रचनाओं में 'वैज्ञानिकता' ढूँढने लगे हैं; वहीं दूसरी ओर वैज्ञानिकों की रचनाओं को भी 'साहित्य' माने जाने का आग्रह बढ़ रहा है। प्रश्न पुनः रिचर्ड्स महोदय तक पहुँचता है कि आखिर 'साहित्य में विज्ञान' और 'विज्ञान में साहित्य' का यह चक्कर क्या है? दरसल इन दोनों की ही

अवधारणा को सही न समझ पाने में ही असली पेंच है। साहित्यकार के लघु अथवा वृद्ध विचार-विश्व के महत्व को और वैज्ञानिक के मूर्त विचारणीकरण के प्रयासों के महत्व को अलग-अलग मान लेने के कारण ही द्वंद्व है। एक वैमनस्य का कारण 'विज्ञान को प्रयोगशालाओं' और 'साहित्य को गैर-प्रयोगशालों' का विषय मानना भी है। असली कारण, जिससे साहित्य व विज्ञान को धरती-आकाश की तरह माना जाता है, 'विज्ञान विषय' को ही 'वैज्ञानिकता' मान लेना है।

वैज्ञानिकता स्वयं में कोई विषय नहीं है। यह तो विषय को समझने का वह तरीका है जिससे झूठ को सच न समझ लिया जाए। अलग-अलग विषयों के जानकार इसके लिए अपने-अपने प्रयोग करते हैं, उनको दोहराते हैं और फिर किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचकर उस प्रयोग को सिद्धांत बनाते हैं। साहित्यकार चाहे तो इन सिद्धांतों पर अपनी रचना करके वैज्ञानिक प्रयोग के लिए नए विचार दे सकता है। सन्द रहे कि वैज्ञानिक और साहित्यकार के कार्यों की शुरुआत एक ही धरातल से होती है - परिकल्पना के। साहित्यकार अपनी कल्पना के प्रयोगों से विभिन्न विधाओं में शब्द रचना करता है और वैज्ञानिक अपनी कल्पना के प्रयोगों से या तो भौतिक आविष्कार करता है या किसी

सत्य सिद्धांत की स्थापना करता है। विज्ञान की उपलब्धियाँ साहित्यकर्मी के लिए रचनात्मक आधार हो सकती हैं और ठीक इसी तरह साहित्य के विचार वैज्ञानिक के लिए भी रचनात्मक आधार हो सकते हैं। 'वैज्ञानिकता' की दृष्टि से दोनों कर्मी एक समान हैं, उपयोगी हैं और महत्वपूर्ण हैं। इस आधार पर दोनों को पृथक नहीं घोषित किया जा सकता परंतु ध्यान रहना चाहिए कि यदि साहित्य-कल्पना के प्रयोगों में वैज्ञानिक असफल रहता है तो वह आपके साहित्य को सत्य नहीं मानेगा और उसके प्रायोगिक परिणामों को गलत प्रयोग करने से साहित्य भी अवैज्ञानिक माना जाएगा। बहरहाल...आज के 'वैज्ञानिक फैशन' के युग में जब वैज्ञानिक भी साहित्य को प्रतिष्ठा देने लगे हैं तो नई विज्ञान-प्रेमी पीढ़ी में साहित्य के प्रसार की संभावनाएं भी लगती हैं। वैज्ञानिक यदि साहित्य की मान्यता स्वीकारते हैं तो साहित्यकारों की कोशिश भी यही होनी चाहिए कि वे बिना जाने विज्ञान के तथ्यों को साहित्य न बनाएं। एक-दूसरे को पढ़ने-जानने-समझने के लिए दोनों स्वतंत्र हैं, इसलिए सिर्फ दिखावे के लिए दिखावा करना अहितकर ही है।

इस मजेदार लेख के लिए *आजकल* को हार्दिक धन्यवाद और लेखक को साधुवाद।

-प्रीतम अपछयांग, देहरादून

मुख्यतः 'डार्विनवाद' पर आधारित आलेख 'वैज्ञानिक तथ्य और साहित्य सृजन' के अंतर्गत हक्सले बंधुओं के वैज्ञानिक सोच तथा कल्पना की बातें आज समय के करीब नजर आती हैं।

मंजुला राणा ने 'दिनकर' के काव्य-नाटक *उर्वशी* में सन्निहित प्रेम-चेतना और स्त्री-पुरुष संबंध की चर्चा कर आलेख को सशक्त बनाया है। प्रदीप पंत के द्वारा स्व. वीरेंद्र मिश्र की रचना-यात्रा पर संक्षिप्त जानकारी भी उनको (स्व. मिश्र) समझने में पर्याप्त साधन बनी है।

काकोरी कांड के अमर वीर सपूतों में एक शहीद अशफाकउल्ला खां और दूसरे मन्मथनाथ गुप्त के व्यक्त श्रद्धांजलि से अंक संग्रहणीय लगा। आज शायद ही कोई ऐसा वीर नौजवान हो जो मौत को दुल्हन के रूप में कबूल करे। कोई अशफाक ही कह सकता है- कोई आरजू नहीं है, है आरजू तो ये है / रख दे कोई जरा-सी खाँके वतन कफन में।

वहानियों में क्षितिज शर्मा की 'छलावा' अच्छी लगी। पूर्णतः आत्मीय संबंधों के उतार-चढ़ाव और प्रेमी युगल की भावनाओं को यहां मूर्त रूप में व्यक्त किया गया है। वस्तुतः और सारे रिश्ते भले ही टूट जाएं, परंतु आत्मीय रिश्ते

साहित्य में स्वचेतना और स्त्री

समकालीन हिंदी कहानी जितने व्यापक परिमाण और बहुआयामी यथार्थ संदर्भों में रची-गढ़ी जा रही है, उसमें बराबरी की सहभागिता और अपनी पहचान अर्जित करने में इस देश की अब तक लगभग परतंत्रता में जी रही आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री सृजनात्मकता का समर्पित योगदान उपेक्षणीय नहीं। यह अलग बात है कि पुरुष सत्तात्मक भारतीय समाज में विषमता की यातना झेल रहे समस्त स्त्री वर्ग की ही भांति, रचनात्मक संसार में भी स्त्रियों की स्वतंत्र सत्ता को अविश्वास और विसंगतियों का सामना करना पड़ रहा है। कुछेक अपवादों को छोड़कर सामंती मानसिकता से ग्रस्त हिंदी साहित्यकार एवं मूर्धन्य आलोचक समकालीन सृजन परिदृश्य में, स्त्री रचनाकारों की चुनौतीपूर्ण सहभागिता को 'जनाना लेखन' के खिताब से विभूषित कर उसे अपने से कमतर साबित करने में जुटे ही रहते हैं। समकालीन महिला लेखन का विवेचन प्रस्तुत कर रही हैं चित्रा मुद्गल

समकालीन हिंदी कहानी जितने व्यापक परिमाण और बहुआयामी यथार्थ संदर्भों में रची-गढ़ी जा रही है, उसमें बराबरी की सहभागिता और अपनी पहचान अर्जित करने में इस देश की अब तक लगभग परतंत्रता में जी रही आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री सृजनात्मकता का समर्पित योगदान उपेक्षणीय नहीं। यह अलग बात है कि पुरुष सत्तात्मक भारतीय समाज में विषमता की यातना झेल रहे समस्त स्त्री वर्ग की ही भांति, रचनात्मक संसार में भी स्त्रियों की स्वतंत्र सत्ता को अविश्वास और विसंगतियों का सामना करना पड़ रहा है। कुछेक अपवादों को छोड़कर सामंती मानसिकता से ग्रस्त हिंदी साहित्यकार एवं मूर्धन्य आलोचक समकालीन सृजन परिदृश्य में, स्त्री रचनाकारों की चुनौतीपूर्ण सहभागिता को 'जनाना लेखन' के खिताब से विभूषित कर उसे अपने से कमतर साबित करने में जुटे ही रहते हैं। जबकि परिदृश्य की वास्तविकता चमत्कृत करती है कि हौसलों पर प्रतिबंधों की लगातार चोटों को झेलते हुए, अपने ही उपक्रमों से वर्जित कार्य क्षेत्रों में भी पुरुष वर्चस्वता को खंडित करने वाली चेतनापूर्ण नारी, प्रतिभा, दक्षता, त्वरित निर्णय क्षमता को सिद्ध करते हुए अपनी साहसपूर्ण उपस्थिति रेखांकित कर रही है।

महिला लेखन, पुरुष लेखन के दुराग्रही विवादों और टांग खिंचाई को अनावश्यक तूल न देकर मुद्दों पर स्वयं को एकाग्र करूँ तो, स्त्री रचनात्मकता के



रेखांकन : मोहम्मद खालिद सिद्दीकी

संदर्भ में स्वयमेव मेरी चेतना रह-रहकर कुछेक बुनियादी प्रश्नों से मुठभेड़ करती रहती है। क्या वास्तव में महिला लेखन 'स्वातः-सुखाय' का लेखन है या फिर ओछे शब्दों में कहूँ तो स्वयं का रंडीरोना! या समकालीन सृजन संसार में जो उनकी प्रतिबद्ध सहभागिता का दावा है- सही अर्थों में क्या वह नारी अस्मिता की लड़ाई लड़ रहा है? उन दारुण अंतर्सृत्यों की तलछट कुरेद, रिस रहे घावों की मवादों को धो-पोंछ रहा है, जो इस देश की आधी आबादी का अवाक् कर देने वाला यथार्थ है! क्या शिक्षा और स्वावलंबन ने परिवार और समाज में उसे समता दी है? क्या दस प्रतिशत शिक्षित आत्मनिर्भर नगरीय, महानगरीय, कस्बाई स्त्री, शेष चालीस प्रतिशत ग्रामीण, आदिवासी नारी के पशुवत् खटते जीवन के संक्रासों के विषय में चिंतित है, जो सरकारी साक्षरता अभियानों के मुखौटे तले पाटी पर स्वयं का नाम लिखना भर सीख, समय के साथ खड़े रहने और खड़े कर दिए जाने के विभ्रम को जीने के लिए विवश है?

अस्वाभाविक नहीं कि कुछ मनोद्वंद्व मुझे अतीत के कपाटों की सांकल खोलने के लिए उकसाते हैं।

दरअसल मैं सोने की चिड़िया कहलाने वाले, सभ्यता, कला-संस्कृति के शिखर पर आरूढ़ आर्यावर्त में- 'शक्ति', 'देवी', 'सती' के रूप में महिमामंडित भोग्या नारी की गौरवगाथा गाने की उत्कंठा से सर्वथा विरक्त,

हैरत में हूँ कि उत्पीड़न के घोर नरक को भोगने के बावजूद, किसी भारतीय नारी ने अपने वर्तमान में विद्रोह का स्वर बुलंद क्यों नहीं किया? जाबाला, माधवी, द्रोपदी, मीरा जैसी स्वतंत्रचेता नारियों के उल्लेख पुराणों, इतिहास में अधिकाधिक क्यों नहीं मिलते? इन स्वाभिमानी नारियों ने उत्पीड़क समाज में नारी शोषण के विरुद्ध किसी संगठित आंदोलन का बीजारोपण क्यों नहीं किया? ये विद्रोहिणियाँ आम भारतीय नारी के लिए सीता, सावित्री जैसी अनुकरणीय प्रतिमान क्यों नहीं बन पाईं?

मनोवैज्ञानिक तथ्य एक ही नजर आता है। समाज को नैतिक नियंत्रण में रखने के प्रयोजन निमित्त, बल्लि का बकरा बनाई गई स्त्री को मूल्य और मर्यादाओं के नाम पर ऐसे कठोर अनुशासन में रखा गया कि परतंत्रता से उपजी असुरक्षा और निर्भरता ने उसमें, परतंत्रता से इतना लगाव उत्पन्न कर दिया कि 'देवी' और 'महाशक्ति' जैसे अलंकरणों के बावजूद वह अपने भीतर प्रतिवाद के लिए चुटकी भर साहस नहीं संजो पाई कि कभी अपनी पीड़ाओं की अभिव्यक्ति के लिए मुँह खोल पाती!

प्रसंगवश स्पष्ट कर दूँ कि नारी विद्रोह से मेरा अभिप्राय पारिवारिक सत्ता के प्रति अनास्था भाव से नहीं- समतार्जन के लिए आत्म-संघर्ष से है।

अजीब विडंबना है। असमानता से कोसों-कोसों दूर नर-नारी समता का आदर्श जीवन दर्शन 'अर्द्धनारीश्वर' निर्विवाद रूप से सबसे पहले- भारत में विकसित हुआ। पुरुष आधा नारी बने, नारी आधा पुरुष- केवल तभी वे परस्पर पूरक हो सकते हैं। किंतु पुरुष वर्चस्वता पहले भी इस जीवन दर्शन को अहं के चलते आचरित करने में अनिच्छुक रही। अब भी हम विचारशून्य, विवेकशून्य कठपुतलों की भाँति स्त्री-पुरुष संबंधों में आपसी समझ (म्यूचुअल अंडरस्टैंडिंग) की अवधारणा पश्चिम से आयातित कर, स्वयं को परिष्कृत करने की आधुनिकता बो-सँच रहे हैं। तरस आता है उन बुद्धिजीवी लेखकों, आलोचकों की रचनात्मक भूमिका पर जो भारतीय दर्शन की कई मायनों में समाजोन्मुखी सोच की असीमता से मुँह मोड़े हुए प्रगतिशीलता की रामनामी के नीचे नई पीढ़ी के विवेक को कुंठित कर निर्भरता की पूंजी सौंप उन्हें वैचारिक, सांस्कृतिक मानसिक दासता की ओर ले जा रहे हैं।

स्थिति तब भी नियंत्रण में होती यदि आचारसंहिता बनाने वाले पुरुष नियंताओं के संग ईट पर ईट की भाँति स्त्री की वैचारिक भागीदारी आमंत्रित होती। यही कारण है कि नैतिकता-नियंताओं ने जितनी निरंकुशता और संवेदनहीनता के साथ घर-बाहर राजपाट कायम रखने के लिए स्त्री को अंकुशित करने के कठोर फार्मूले विकसित किए, उससे आधी हदबंदियाँ अगर पुरुषों के आत्मनुशासन और आत्मविश्लेषण के लिए निर्मित की गई होतीं, तो निश्चय ही समाज में नारी के प्रति मानवीय दृष्टिकोण विकसित हुआ होता। अंतर्संबंध परस्पर नई परिभाषाएं ग्रहण कर चुके होते।

विस्मय होता है। गुलाम भारत को स्वतंत्र हुए आधी सदी गुजर जाने के बाद भी स्त्री दलन के प्रति हमारे उन्तर्शील समाज का जड़ रवैया यथावत है। 'आपसी समझ' की आयातित अवधारणा ने स्त्री की दशा और दिशा बदलने में कोई सार्थक भूमिका नहीं अदा की। चाहे वह गई सदी के चेहरे पर कालिख पोतने वाला जघन्यतम तंदूर हत्याकांड हो या भवरी देवी के संग सामूहिक बलात्कार की स्तब्ध कर देने वाली घटना या ऐसी ही सैकड़ों। प्रतिदिन! हमारी यह कैसी उत्तर आधुनिकता है जो प्रेम-त्रिकोण की आड़ लेकर संवेदनशून्य-सी घड़ियाली आंख

दुरकाते हुए मृत नैना साहनी से यौन शुचिता और एकनिष्ठता की मांग करती हुई, राजनीतिक हत्यारे पति सुरील शर्मा के नृशंस्तम कृत्य को दबी जुबान से स्वाभाविक ठहराती है?

आश्चर्य इस बात पर भी कम नहीं कि प्रत्येक पाँच वर्ष के उपरांत (अवधि सिमटी है) कुर्सी के हित में देश की आधी आबादी के वोट उगाह, वोट बैंक भरने वाली राजनीतिक पार्टियों ने नारी मुक्ति के प्रश्न को राजनीतिक मुद्दा क्यों नहीं बनाया? स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जिस कांग्रेस पार्टी ने समाज सुधार के लिए 'सोशल कांग्रेस' की स्थापना की थी वह अकाल मृत्यु को क्यौंकर प्राप्त हो गई? मजदूरों के दलन-शोषण को विश्व के मानचित्र से मिटा देने की कृतसंकल्प वामपंथी सकारात्मक सोच, आधी आबादी की अकल्पनीय बदहाली से क्यों आँखें मूंदे रही? जबकि डा. लोहिया ने बहुत पहले स्पष्ट कहा था कि 'नर नारी की समता का मुद्दा सामाजिक न्याय का अहम प्रश्न है। इस समस्या का निराकरण किए बिना स्वस्थ, सभ्य समाज के सर्वांगीण विकास की परिकल्पना अधूरी है।'

निश्चय ही जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति सचेत एक ही विचारधारा ऐसी रही जिसने सामाजिक समस्याओं को अपनी राजनीति का मुद्दा बनाया। सबसे पहले और एकमात्र डा. लोहिया ने 'सप्त क्रांति' कार्यक्रम में नर-नारी समता को प्रथम स्थान पर रखा। दुर्भाग्य कि डा. लोहिया की इस क्रांतिकारी पहल को आगे चलकर उनके अनुयाइयों ने ही सत्ता की होड़ में चुनावी जोड़-तोड़ के लिए होम कर दिया।

शेष राजनीतिक पार्टियों का नारी मुक्ति के प्रति रवैया- क्रूर शब्दों में कहूँ तो जली हुई लाश को सहलाने जैसा- परपीड़क मानसिकता का रसानंद ही है।

नारी समता के संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त चुनौतियों के उल्लेख के पीछे निहित वह दुख और क्षोभ है जो निरंतर अन्यमनस्क किए कंठ को चाँपता रहता है कि जघन्य तंदूर हत्याकांड के संदर्भ में स्त्री के राजनीतिक शोषण के प्रति हिंदी की महिला लेखिकाओं की अभिव्यक्ति मौन क्यों है? चाहे वह बिहार के वैशाली चुनाव क्षेत्र से चुनकर आई 'वैशाली की नगरवधू' के खिताब से अभिमंडित लवली मोहन सिंह की अंतर्कथा हो या सागर की कांग्रेस अध्यक्ष सुषमा सिंह हत्याकांड!

दरअसल नारी चेतना की मुहिम स्वयं स्त्री के लिए अपने अस्तित्व को मानवीय रूप में अनुभव करने और करवाने का आंदोलन है कि मैं भी मनुष्य हूँ और अन्य मनुष्यों की ही भाँति समाज में सम्मानपूर्वक रहने की अधिकारी हूँ। उसे यह भी सुनिश्चित करना होगा कि वह अपनी अस्मिता की लड़ाई कैसे लड़े! उसकी सामाजिक छवि कैसी हो! नारी चेतना के लिए यह भी सुनिश्चित करना अनिवार्य है कि देश की आधी आबादी की शेष चालीस प्रतिशत ग्रामीण और आदिवासी स्त्रियाँ, जिन प्रतिकूल परिस्थितियों में रहकर जीवनयापन कर रही हैं और जो अब तक वोट की राजनीति में रेवड़ की भाँति हाँककर ले जाए जाने और पुरुषों के इशारों पर मतपत्र पर ठप्पा लगाने के लिए अभिशप्त हैं- मुक्त हों। सरकारी प्रचार तंत्र की तरह वे केवल नाम लिखने भर की साक्षरता ही न हासिल करें, स्वचेतना अन्वेषित करके सही अर्थों में शिक्षित हों। उनमें विचार-शक्ति जागृत करने का गुरुतर दायित्व भी स्वयं उनका ही है।

आम भारतीय स्त्री के विषम जीवन को जटिलतर बनाती ये अनेकानेक कठिनाइयाँ, अन्य कार्य क्षेत्रों में सक्रिय स्त्रियों की तुलना में- सृजनात्मक लेखन

को समर्पित लेखिकाओं की चुनौती अधिक हैं।

रचनात्मक साहित्य किसी समस्या का तत्काल निदान नहीं। किंतु आमजन की मानसिकता बन गए दुर्गुणों की गहरी जड़ों में वह लगातार मठा उंडेलकर-आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित ही नहीं करता, उन अदृश्य कारणों की पड़ताल के लिए भी बाध्य करता है जो उनकी चेतना से उनका संपर्क नहीं होने देते!

साहित्य अशिक्षित ग्रामीण स्त्रियों में संप्रेषित

हो, अपने समय से उनका संवाद कायम हो- इसके लिए जरूरी है कि नियमित साहित्यिक संगोष्ठियां सुदूर ग्रामीण इलाकों में आयोजित हों। उनके मध्य, उनकी समस्याओं को उठाती रचनाओं का वाचन-मंचन हो ताकि उनकी स्वचेतना जागृत हो।

देश की प्रख्यात रंगकर्मी उषा गांगुली, साहित्यिक कृतियों को सुदूर ठेठ ग्रामीण इलाकों में मंचित कर इस दायित्व को निष्ठा से अंजाम दे रही हैं। चाहे वह मन्नू भंडारी का नाटक *महामोज* हो या महाश्वेता देवी की संधाल परगना की पृष्ठभूमि से उठाई गई कथा रचना *रूदाली* हो।

मुझे भी ऐसी प्रभावी संगोष्ठियों का विस्मयकारी अनुभव है। मुंबई उपनगर के निकटवर्ती गांवों में 'स्वाधार संस्था' के सहयोगी कार्यकर्ताओं के संयोजन से, ग्रामवासिनियों को उनकी फुरसत के समय साप्ताहिक एकत्र कर हमने कथा गोष्ठियां कीं। ऐसी ही एक गोष्ठी में मराठी में रेखा देशपांडे द्वारा अनूदित, स्त्री (पत्रिका) में प्रकाशित मेरी कहानी 'बावजूद इसके' उनके बीच पढ़ी गई। प्रतिक्रिया में उन महिलाओं के थके-टूटे झाड़्यों से झुलसे चेहरों पर अनायास उपजे गीले प्रश्न, जब बहुत उकसाने और साहस बंधाने पर मुखरित हुए तो उन प्रश्नों से निःसृत अंतर्संयों की खरोचों से लगभग सभी उपस्थित विचलित हो उठे। पहली बार मेरा रचनाकार मन गहरे अपराधबोध से संतप्त सलाखों के पीछे जा खड़ा हुआ, कि क्या दस प्रतिशत सुशिक्षित नारी की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने वाले महिला लेखन को नारी चेतना के प्रतिनिधित्व का अधिकार है? स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में एक मेहरुनिसा परवेज आखिर कब तक आदिवासी स्त्रियों की रक्त दुरकाती आंखों के बंजर सपनों को अपनी सुन हो रही उंगलियों से गोड़ती-सोंचती रहेंगी!

तनिक पीछे लौट महिला लेखन के आरंभिक दौर को खंगालने का उपक्रम करें तो स्पष्ट अनुभव होगा। उस समय के छिटपुट महिला लेखन ने स्त्री विडंबनाओं और उनके द्वंद्वों को अपनी रचनाओं का विषय बनाया अवश्य, किंतु वे अपनी कोई स्वतंत्र दृष्टि विकसित नहीं कर पाईं। अस्वाभाविक नहीं कि देहरी से बाहर आने की थोड़ी-सी छूट और शिक्षा पाने के मुट्ठी भर अवसर उन्हें जितना साहस दे पाए- लिखना क्रांति समान ही था। यही कारण है कि उषा देवी मित्रा, बंग महिला (राजेंद्रबाला घोष, शिवरानी देवी, कौशल्या अशक, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, चंद्र किरण सौनरिकसा का रचनात्मक संसार स्वयं से प्रश्न करता हुआ नजर नहीं आता कि वे अन्याय उनके ही हिस्से में क्यों! उन्हें हाशिए पर क्यों रखा गया है।

उषा देवी मित्रा की छोटी-सी कहानी 'प्रथम छाया' अपने अनगढ़ रचना



मन्नू भंडारी

कृष्णा संकरी

विन्यास और सीधी-सपाट अभिव्यक्ति के बावजूद सहज भावबोध के संप्रेषण के चलते आज भी हृदय को छूती है।

पद्य के क्षेत्र में महीयसी महादेवी वर्मा का अवदान स्त्री की बहुआयामी सर्जनात्मक क्षमता को रेखांकित करता हुआ रचनात्मक जगत में व्यक्तित्व पूर्ण लेखन के संदर्भ में महिला लेखिकाओं के लिए प्रेरणा स्रोत बना। उनका करुणा से पल्लवित समूचा काव्य विधान एक चिंतन और असीम प्रिय के लिए निवेदित हो, सघन तन्मयता के साथ जीवन के उतार-चढ़ावों की धूप-छांह उकरता, पूर्णतः इष्ट में समर्पित विसर्जित नारी की भावनाओं

का अंकन-चिंतन करता हुआ- उसे स्त्री की आंतरिक पीड़ा के साथ जोड़ता है। केवल रेखाचित्र में नारी उत्पीड़न के प्रति एक किस्म की वितृष्णा और प्रश्नाकुलता परिलक्षित होती है। किंतु समग्रता में वह स्वर स्त्री प्रतिवाद की अगुवाई नहीं कर पाता।

नई कहानी का कथा-दौर स्त्री-पुरुष-संबंधों के अंतर्द्वंद्वों को नए सिरे से पड़ताल करता हुआ रोमानियत से स्पर्शित व्यसन की भांति सिर पर चढ़कर बोलने वाला कथा-दौर रहा है। इस दौर में महिला कथाकारों की उपस्थिति, पूर्व स्थिति की तुलना में उत्साहवर्धक ही नहीं रही- बल्कि कुछ मामलों में नितांत भिन्न तेवर समेटे हुए अपने समय की दबंग साक्षी बनीं। अहं के टकराव, पराश्रयता से मुक्ति, स्वालंबन, प्रेम, विवाहेतर प्रेम, तलाक, असमानता, यौन-स्वेच्छा, व्यक्तिवादिता, मध्यमवर्गीय शील अंतर्विरोध, उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों का रेखांकन आदि विषय उनके कथा संसार के मूलाधार बने। मनोवैज्ञानिकता प्रत्येक पक्ष की कसौटी बनी।

किंतु द्रष्टव्य है कि उनकी सचेतन होती स्वालंबित स्त्रियां मुक्ति की छटपटाहट से उद्विग्न अंततः पुरुषसत्तात्मकता के आधिपत्य को अस्वीकृत नहीं कर पातीं। कुछेक अपवादों को छोड़कर वे अपने तई तय परिभाषा से विमोहित नहीं हो पाईं कि वे अपने को इस तरह से देखें और महसूसें जिस तरह से पुरुष उन्हें देखना, समझना पसंद करता है।

मन्नू भंडारी की बहुचर्चित कहानी 'एक बार और' की नायिका बिन्नी प्रेमी कुंज के मधु से विवाह कर लेने के निश्चय के उपरान्त विश्वासघात अनुभव करते हुए भी उसके प्रति अनासक्त नहीं हो पाती। जबकि कुंज के चरित्र में सामंती आचरण की प्रवृत्ति अप्रकट नहीं। कुंज बिन्नी से कहता है- 'बिन्नी! शादी मेरे सोच को इतना संकीर्ण नहीं बना सकेगी कि मैं अपने और सारे संबंधों को झुठला सकूं!'

इसी प्रवृत्ति को मन्नू जी की एक अन्य चर्चित कहानी 'नई नौकरी' के पति कुंदन के चरित्र से भी सूंघा जा सकता है। किंतु 'नई नौकरी' की रमा से ठीक विपरीत 'ऊंचाई' की आत्मदृढ़ नायिका शिवानी, पूर्व प्रेमी अतुल के जीवन के प्रति उदासीन भाव को तोड़ने की मंशा से उससे यौन संबंध कायम कर, पति शिशिर के समक्ष बिना किसी ग्लानि के स्वीकार करती हुई यह स्पष्ट संकेत देती है कि वह यौन शुचिता के परंपरावादी शील-संकोचों और दबावों से स्वतंत्र होती स्त्री है।

स्त्री होने के रूढ़ सामाजिक प्रतिरोधों से दो-चार होती कथाकार उषा प्रियंवदा की मध्यमवर्गीय परिवारों से आई, देश या विदेश में जा बसी स्वाभिमानी आत्मनिर्भर नायिकाएं, पुरानी लीकों को तोड़ती हुई घर-बाहर का दोहरा दायित्व वहन करते हुए जहां समाज में अपनी हैसियत अर्जित कर सामर्थ्य का लोहा मनवाती हैं, वहीं उसी सामर्थ्य के चलते घर की देहरी के भीतर अपने संसार में उपेक्षित और इस्तेमाल होती हैं। घर का दायित्व उन्हें संस्कारवश अपने तई किसी दोस निर्णय पर नहीं पहुंचने देता। चाहे वह *पचपन खंभे लाल दीवारों* की नायिका सुषमा हो या *रुकोगी नहीं राधिका* की राधिका।



मुद्रा गर्ग

मंजुल भगत

पंद्रह जुलाई 1984 को कथा पत्रिका *सारिका* के लिए संपादक मुद्राल जी को दिए गए एक लंबे साक्षात्कार में उषा जी ने *पचपन खंभे लाल दीवारों* की नायिका सुषमा के संदर्भ में इस तथ्य को स्वीकारा कि *पचपन खंभे लाल दीवारों* लिखने के दस साल बाद जब मैंने उसे दुबारा पढ़ा तो मुझे यह लगा कि यह मैंने क्या किया! जिस समय मैंने यह उपन्यास लिखा, उस समय मुझे यह अंत (सुषमा द्वारा नील के साथ न जाने का निर्णय) बहुत स्वाभाविक लगा था, क्योंकि जिस मानसिकता की वह लड़की थी, उसके लिए सब कुछ तोड़-ताड़कर चले जाना मुश्किल था। दस साल बाद मुझे लगा कि हो सकता है वह (सुषमा) सुखी न होती पर मुझे वह विकल्प उसे देना चाहिए था।

स्त्री द्वारा स्त्री के शोषण की जैसी मनोवैज्ञानिक व्याख्या संवेदनात्मक सघनता के साथ, उषा जी की रचनाओं में स्त्री चेतना के ग्राफ को दर्शाती फंदे-दर-फंदे बुनावट पाती है— अन्यत्र दुर्लभ है।

उषा प्रियंवदा की स्त्रियां व्यक्तित्व के उपार्जन के बावजूद संस्कारवश जिन संकोचों और दुविधाओं से परास्त होकर पारंपरिक अनुकूलन (कंडीशनिंग) से मुक्त होने के लिए छटपटाते हुए भी मुक्त नहीं हो पातीं, वहीं पहली बार पुरुष सत्तात्मक समाज में पुरुषों द्वारा दी गई अपनी सामाजिक छवि को निडर हो उतार फेंकते हुए, मूल्य-मर्यादाओं की पुरानी नींवों, शहतीरों को हिलाती हुई कृष्णा सोबती की *मित्रो मरजाती* की दबंग नायिका मित्रो पति से अतृप्त आंचल में मुंह दे पारंपरिक स्त्री की भांति उसे अपनी नियति का खेल न स्वीकार कर अचानक विद्रोह का स्वर बुलंद करती है— “अम्मा, अपने पहलवान बेटे को किसी वैद्य-हकीम के पास ले जा। यह लीला उसके वश की नहीं।”

त्याग, समर्पण, शील, संकोच, सतीत्व, मातृत्व आदि वर्जनाओं से पांव के नीचे की धरती से लेकर सिर के ऊपर अंतरिक्ष तक अलंकृत भारतीय स्त्री के बीच अचानक विस्फोट—सी जन्मी मित्रो का यह नितांत अनपेक्षित रूप, कइयों के अंतर्संसार का सत्य होते हुए भी स्वयं स्त्रियों को ही नहीं लजा गया— हिंदी के अनेक कठमुल्ला साहित्यकारों की भी चूल्हे हिला गया। उसका यह दुस्साहस उन्हें अपचेय हो उठा, जिन्हें स्त्री की सर्जनात्मकता को अपने कंधों पर थपकाए रखने और उसकी स्वचेतना होती सत्ता को टंगाड़ी मारने की आदत पड़ी हुई थी।

चौरासी की *सारिका* में ‘पीढ़ियां : आमने-सामने’ के अंतर्गत नारी चेतना

के प्ररिपेक्ष्य में, स्त्री लेखन में डेढ़-दो दशकों से आए स्वचेतना के विशिष्ट परिवर्तन को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते-परखते और उसे रेखांकित करते हुए डा. नामवर सिंह चुटकी भरने से नहीं चूके— ‘कहानी लेखिकाएं जितनी हैं उनमें से दो-तीन को छोड़कर इसलिए प्रकाशित हो रही हैं कि वे महिलाएं हैं।’

किंतु हमारे गठियाने के लिए स्त्री स्वचेतना के पक्ष में उनकी वे टिप्पणियां और निष्कर्ष (इसी बातचीत के दौरान) काफी हैं और स्वीकार्य भी— शेष उनकी ठरकबाजी उन्हें मुबारक !

बहरहाल उनकी सामंती करक गाथा को यहीं छोड़ दें तो संक्रमण के बावजूद सांध से दाखिल होती उजास की उम्मीद—सी एक बात ध्यानकृष्ट करती है कि भारतीय स्त्री के लिए मित्रो अपवाद ही सही, किंतु एक मायने में नारी स्वचेतना के आरंभ का प्रस्थान बिंदु कही जा सकती है। क्योंकि जिस समाज में अपनी ब्याहता के रहते हुए यौन संतुष्टि में वैविध्य के आकांक्षी पुरुष को पर-स्त्रीगमन की मनचाही सहूलियतें और मान्यताएं प्राप्त हों, अलावा इसके— स्वयं उसके लिए अपनी बिरादरी में सामाजिक प्रतिष्ठा (स्टेटस-सिंबल) का प्रश्न हो— उस समाज में ब्याहता मित्रो द्वारा अपनी आदिम आवश्यकता के मानवीय अधिकार की मांग रख देना, उनके पुरुषत्व का उपहास नहीं? चोट लगनी स्वाभाविक थी।

नारी चेतना के संदर्भ में राजाराम मोहन राय बनने की कसक ओढ़े-बिछाए एक सवाल पुरुष खेमों से छलांग लगाकर अक्सर ठेना मारने से गुरेज नहीं करता कि ‘जनाना लेखिकाएं’ आखिर ऐसा क्या क्रांतिकारी लिखकर पटकें दे रही हैं जिसे पुरुष लेखकों ने पहले ही घोंट-घांटकर न रख दिया हो ! उनकी स्थापनाओं पर गौर किया जाए तो उनकी छद्म प्रगतिशीलता के चेहरे पर से नकाब उठते देर न लगेगी। चाहे वह स्वतंत्रता से पूर्व या स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात लिखे गए बाबा नागाजुन के चर्चित उपन्यासों में *कुंभीपाक* की चंपा हो या *उग्र तारा* की निरीह उगनी। पाठक स्पष्ट महसूस कर सकता है। वर्ग संघर्ष को पैना करने के अभिप्राय से, स्त्री का जितना भयानक शोषण चटखारे लेने की मानसिकता से रचा-गढ़ा गया है— लेखकीय कौशल के बावजूद उसकी रस लेने की प्रवृत्ति को अपरोक्ष नहीं रहने देता।

अज्ञेय के *शेखर एक : जीवनी* और *नदी के द्वीप* के सुशिक्षित नारी पात्र चाहे वह शशी हो या रेखा— वर्जनाओं से मुक्त चरित्र अवश्य हैं, जो यौन तृप्ति को विवाह के बंधन से न जोड़कर, देह की स्वाभाविक आवश्यकता से जोड़कर देखते हैं। किंतु वहां भी समता भाव के मामूली आविर्भाव के बावजूद उन स्त्री पात्रों की परणति नायक शेखर और अभय के उत्कट चरित्र विकास में सहायक होने के अतिरिक्त विशेष कुछ नहीं।

यही मनोविज्ञान कुछ अलग परिस्थितियों और परिवेशगत दबावों के साथ रंगेय राघव के उपन्यासों की संकीर्ण, ईर्ष्यालु, प्रेमालु अविश्वास से भरी यदा-कदा दबंग नायिकाओं का भी अंतर्जगत है। चाहे वह ‘उबाल’ की चंदा हो या कब तक *पुकारूं* की कजरी।

नरेश मेहता के चर्चित उपन्यासों- *यह पथ बंधु था* और *डूबते मस्तूल* की स्त्रियाँ-सरो, गुणवंती, रत्ना, रंजना आदि पार्टी, घर-परिवार में सहज रची-बसी राग, द्वेष, हठ, वात्सल्य से पल्लवित- उत्पीड़न के प्रति प्रतिवादी दृष्टिकोण रखती हुई क्षुब्ध, असंतुष्ट अवश्य होती हैं लेकिन उनकी नियति भी समय काल के दबावों में जकड़ी परंपराओं से विच्छिन्न नहीं। गौर करने योग्य है कि नरेश मेहता के स्त्री पात्र पुरुष लेखक के मानसिक बलात्कार से सर्वथा सुरक्षित स्त्रियाँ हैं।

‘नई कहानी’ के दौर के स्वयंसिद्ध लेखकों की स्त्री संबंधी प्रगतिशील सोच को छलनी में छान-बीन लें तो कुछेक रचनापवादों को छोड़ भूसी ही भूसी हाथ लगेंगी। कारण कि उनके समय में शिक्षित-स्वातंत्र्यवादी हो रही नगरीय, महानगरीय स्त्री व्यक्तित्व उपाजित करती हुई उनकी पारंपरिक वर्चस्वता को ठेस पहुंचा-प्रतिद्वंद्वी के रूप में खड़ी होती दिखाई दे रही थी। जबकि स्त्री धैर्य के साथ स्वयं के अति संवेदनशील और भावुक मनोसंसार से कुंठा और संकोचों को निवासित कर अपने बुद्धि-विवेक को संवर्धित करती हुई एक नई परिभाषा स्वयं के लिए चाहने लगी थी। स्पष्ट महसूस हो रहा था कि उदार होने के दिखावे के बावजूद पुरुष अपनी सत्तात्मक मानसिकता से विलग होने को राजी नहीं।

संकट और भी था। पार्टीनिष्ठ वैचारिक प्रतिबद्धता से संचालित उसका सोच, समाज की अहम समस्याओं को एक विशेष नजरिए से देखते-परखते हुए उन्हीं निर्दिष्ट उपायों में उनके हल खोजते नारी उत्पीड़न जैसी अमानवीय समस्या को सामाजिक समस्या की श्रेणी में न रखकर उसे घर का मामला मानता रहा। और यह भी मानता रहा कि अपने इस ‘घर के मामले को’ वह जब चाहे, जिस प्रकार चाहे, सुलझा सकता है।

शानी, राजेंद्र यादव, कृष्णबलदेव वैद, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश आदि अनेक दिग्गज कथाकारों के अधिकांश नारी पात्र उनके नितान्त निजी अनुभवों के ‘कैटलॉग’ में संकलित- पुरुषों के निहारे करती, घर, दफ्तर, पार्टी, प्रेम, बिस्तर, कैरियर, इस्तेमाल के बीच पेंडुलम-सी झूलती कुछ अधिक परिष्कृत रेपर में लिपटी वस्तु का ही पर्याय रहे हैं। रचनाओं को सोदाहरण पेश कर मैं आपके धैर्य की परीक्षा का खतरा मोल नहीं ले सकती। मेरे लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं वे प्रतिगामी शक्तियाँ जो स्त्री लेखन की प्रखर हो रही ऊर्जस्विता को ध्वस्त करने के लिए वाजिब गैरवाजिब- सभी हथकंडे अपना रहा है।

गौरतलब है कि अपनी बंधी मुट्ठी न खोलने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा विरासत पत्र-पत्रिकाओं में विराजमान लेखकों, संपादकों की गोद में बैठी हुई- अर्थात् कृतियों के स्वयं शोध और मूल्यांकन की मशकत न उठा, गुट विशेष के रचनाकारों की पात्र-अपात्र कृतियों की संस्तुति और वंदन-पूजन में ही अपनी समीक्ष्य दृष्टि का अपव्यय कर धन्य हो रही है।

फतवों का रोग-शौक इधर बहुतां ने अपने समीक्षा गुरू से उपाजित करके उन्हीं की तर्ज पर, महिला लेखन के संदर्भ में अपनी स्पष्टवादी छवि को तराशने, पुष्टा करने के लिए समय-समय पर जारी करना शुरू कर दिया है- कि उनका लेखन अभी भी किशोरावस्था में है, उनमें स्वचेतना का मौलिक अभाव है; कि आज भी वे निजी प्रेम और पतितिक्रिया के दुख-सुखों को ही साहित्य में धो-फेंच रही हैं। लगभग एक ही तर्ज पर। नासमझ उत्तर-आधुनिकता से मुंह मोड़े वहां तक भी नहीं पहुंच पा रही हैं जहां तक दूरदर्शन के घटिया धारावाहिक छिन-छिन

में पहुंच रहे हैं। वे सत्तर के बाद से प्रखर हुए महिला लेखन में स्वचेतना के क्रमिक विकास और समाज सरोकारीय दृष्टि को अनदेखा करते हुए, समकालीन रचना परिदृश्य को अब भी ‘शिशिन केंद्रित’ लेखन प्रमाणित कर रहे हैं।

दरअसल जनाना,मर्दाना लेखन जैसी कोई चीज नहीं है। समान अवसर और प्रशिक्षण से विकसित सामर्थ्य सामर्थ्य ही होती है।

एक विकारग्रस्त रोगी की शल्यक्रिया जिस कुशलता से पुरुष शल्य चिकित्सक करने में सक्षम है, स्त्री शल्य चिकित्सक भी वैसी ही कुशलता से उसे पूरा करती है। बल्कि निजी तौर पर रोगियों से पूछने पर उनका मत मायने रखता है कि पुरुष चिकित्सक की तुलना में ‘पोस्ट ऑपरेटिव केयर’ के मामले में महिला चिकित्सक अधिक मानवीय, अनुशासित, सहिष्णु और वात्सल्यमयी होती हैं। द्रष्टव्य है कि स्त्री चिकित्सक अपनी प्रकृतिजन्य अतिरिक्त संवेदनशीलता के चलते अपनी विशेष भूमिका को अधिक उपयोगी और न्यायपूर्ण बना पाती हैं- रोगी चाहे पुरुष हो या स्त्री।

अस्मिता की खोज में पिछले तीस वर्षों से, प्रतिबद्ध रूप से सक्रिय महिला लेखन में स्वचेतना की प्रवाहित हो रही अंतर्धारा को उनकी उल्लेखनीय कृतियों में स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। साहित्य में हो रही राजनीति से मामूली रूप से छिन्न होने के बावजूद वे गंभीरता से अनुभव कर रही हैं, कि देश की उत्पीड़ित, शोषित, तिरस्कृत आधी आबादी की पहचान के संकट को वे अनदेखा नहीं कर सकतीं।

उनके इस क्रांति कदम को लगभग बाइस वर्ष पहले आए मंजुल भगत के बहुचर्चित उपन्यास *अनारो* में श्रमशीला नारी की जीवटता, आत्मदृढ़ता और सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियों में विचलित न होने की स्वचेतना को- गहरी मनोव्यथा से उपजे अंतर्द्वंद्व में अनायास प्रस्फुटित होते महसूस किया जा सकता है।

शराबी पति नंदलाल के दूसरी औरत बैठा लेने और पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुंह मोड़कर मुंबई भाग जाने के बावजूद, घर-घर चौका-बासन में खटती-टूटती पाई-पाई जोड़ी रकम से बेटी गंजी का ब्याह- अनाथ-आश्रम का बैंड बाजा बजवा, पाहुनों को तर लड्डू-कचौड़ी खिलवाकर- अकेली अनारो निष्ठा से पारंपरिकता निबाहते हुए धूम-धाम से करती है। रत्तीभर मन में मलाल लाए बगैर कि वह ‘औरत’ है; मर्द के बिना समाज में अधूरी, असहाय है। बल्कि उसकी सहिष्णुता और हृदय की विशालता उस वक़्त देखते बनती है जब वह स्वयं नाकारे पति नंदलाल को सिर्फ मौके पर आकर खड़ा हो जाने के लिए मुंबई से घर लीवाकर लाती है।

उपभोक्तावादी अपसंस्कृति की विकृतियों से निम्नवर्ग भी अछूता नहीं। जटिल से जटिलतर होते जा रहे महानगरीय समाज के कमरतोड़ टंटों से आक्रांत अनारो, टूटने के कगार पर पहुंचकर भी नहीं टूटती, न पलायन कर स्वयं पर मिट्टी का तेल उंडेल कष्टों से मुक्ति का रास्ता ढूँढ़ती है। यह तनकर खड़े रहने और परिस्थितियों से मोर्चा लेने की आत्मशक्ति अनारो ने कहां से अर्जित की? जबकि उसने अपने मर्द से कभी अलग नहीं होना चाहा।

रूढ़िग्रस्त भारतीय मुस्लिम परिवेश में स्त्री की इसी आत्मान्वेषित स्वचेतना को, स्त्री होने की विशिष्ट मान्यताओं और संस्कारों से पग-पग पर मुठभेड़ करती, कड़वे जीवनानुभवों के प्रहारात्मक अवरोधों से अविचलित, उचित-अनुचित का स्वयं के विवेक से अंतर करती, उन्हें अपनाती-छोड़ती, गहरी प्रश्नाकुलता के

साथ नासिरा शर्मा के उपन्यास *ठीकरे की मंगनी* की महरूख में अनुभव किया जा सकता है।

जैदी खानदान में चार पीढ़ियों के अंतराल के उपरांत सौभाग्य से वरदान स्वरूप जन्मी और लाड़-चाव से पली-बढ़ी बेटी जब अपने मंगेतर मौसेरे भाई रफ्त के साथ अनेक पारिवारिक विरोध और अड़चनों को मंशाते हुए उच्च शिक्षा हेतु दिल्ली आती है तो स्त्री की वैचारिकता और आधुनिकता के ऊपरी समर्थक शिक्षित समाज की अंतर्कथा उसे स्तब्ध कर देती है। वह समझ नहीं पाती कि उसकी कैसी प्रतिक्रिया होनी चाहिए और उसके निश्चय क्या हों।

मंगेतर रफ्त मियां की तेज रफ्तार उन्हें विदेश ले जाती है जहां वे दूसरी स्त्री में अपना मनोसंसार ढूंढ लेते हैं और अरसे बाद ऊबकर वापस महरूख की ओर लौटते हैं। लेकिन तब तक लोगों के अंतर्विरोधी व्यवहार एवं परिवेश के दबावों से टूटी, बिखरी, बिखरकर नई जिजीविषा और हौसले से भरकर उठ खड़ी हुई महरूख, अपनी अस्मिता की तलाश में बाप और शौहर के घर से अलग, अपनी मेहनत से अपना 'घर' बनाने में सफल होती है। जो 'घर' सिर्फ उसका है। जिस घर से न कोई बाप उसे विदा कर सकता है न कोई शौहर निकलने के लिए बाध्य।

गांवों में जाकर ग्रामीणों के विकास और उत्थान में रुचि लेकर महरूख जहां अपने शेष जीवन को नए उद्देश्यों और संकल्पों से जोड़कर, उनके अभावों और कष्टों के निवारण को जीवन जीने का अवलंबन बनाती है, वहीं मेहरुनिसा परवेज के चर्चित उपन्यास *अकंला पलाश* की स्वचेतना संपन्न नायिका तहमीना जो एक प्रतिबद्ध सामाजिक कार्यकर्ता भी है और निरंतर उत्पीड़ित-तिरस्कृत स्त्रियों के हक की लड़ाई लड़ती, उनका संबल बनती है— एक विशेष परिस्थिति में आकर स्वयं निजी मोर्चों पर कम शोषित नहीं होती।

दांपत्य से असंतुष्ट तहमीना तुषार के प्रेम में जीवन के नए अर्थ खोजती है। उसे अपना जीवनाधार बनाती है। किंतु तुषार का भोगवादी और दायित्वों से पलायनवादी रवैया उसे नई चुनौतियों के बीच ला खड़ा करता है। दूसरों को सहारा देने वाली तहमीना स्वयं मानसिक रूप से किरच-किरच होकर नैराश्य में डूब जाती है। मगर वह साहसी स्त्री है। अपनी ही कोशिशों से अपने लिए पुनः एक नया रास्ता चुनती-बनाती है।

अनारो, महरूख, तहमीना का अंतर्संसार, किसी भी वर्ग और समुदाय से आई भारतीय स्त्री का भीतरी सच है। किंतु उस स्वचेतना के निरंतर विकास का भी साक्ष्य है जो उसे निर्भरता से ही मुक्ति नहीं दिला रहा, अनेकों विपरीतताओं से जूझने और निकलने के रास्ते भी सुझा रहा है।

जाहिर है, वह दिन-पर-दिन मजबूत हो रही है और अपनी प्रचलित अबला सामाजिक छवि की केंचुल अपने ही हाथों उतार फेंक रही है।

ठीक इन स्त्रियों के विपरीत मृदुला गर्ग के अति विशिष्ट शिल्प में चुस्त चिने हुए आत्मकथात्मक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास *मैं और मैं* की चेतनासंपन्न



चित्रा मुद्गल



मैत्रेयी पुर्या

बुद्धिमती नायिका माधवी, संभवतः समकालीन रचना परिदृश्य में उत्तर आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रथम पात्र है। निश्चित ही जिसका अंतर्संघर्ष संदर्भ, परिवार के बाहर के जीवन संपर्क और उनकी टकराहटें हैं, न कि अपने अस्तित्व की सुरक्षा का मोर्चा।

माधवी, पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री के रूढ़ पारंपरिक अंतर्संसार से उसे उस रूप से बेदखल करती हुई, अपनी लेखकीय महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए लेखक मित्र कौशल का जिस कौशल के साथ 'तू डाल-डाल में पात-पात' के रूप में इस्तेमाल करती है और काइयां कौशल के स्वार्थों और

ओछी हरकतों को समझ-बूझ लेने के बावजूद स्वयं का इस्तेमाल करवाती है वह रचनात्मक जगत के छद्मों को तलछट से निरावरण कर लगभग मोहभंग की स्थिति में पाठकों को ले जा पटकता है।

मैं और मैं की नायिका माधवी की द्वंद्वपूर्ण मनःस्थिति, गहरी संलग्नता और सशक्तता के साथ मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में 'अति' के उन बिंदुओं को छूती हुई स्त्री की भटकन को रेशे-रेशे उद्घाटित करती, 'स्वचेतना' के परिप्रेक्ष्य में उन प्रश्नों के कठघरे बुनती है जिनसे टकराना और आत्मसमीक्षा के लिए उन्मुख होना प्रत्येक स्त्री की अनिवार्यता प्रतीत होती है।

घर-बाहर के दोहरे दायित्वों से दो-चार हो रही स्वालंबन की दिशा में अग्रसर काम-काजी स्त्री के साथ- स्त्री होने के खमियाये कम नहीं। क्योंकि उसका सीधा ताल्लुक पुरुषों की अब तक अपरिवर्तित मानसिकता से है। केवल पांच-छह प्रतिशत पुरुषों के बदलने से समाज में स्त्री की नियति नहीं बदल सकती।

अर्थोपार्जन के क्षेत्र में सक्रिय स्त्री की प्रतिद्वंद्विता को अपनी सर्वोपरिता के दंभ के चलते, स्वस्थ रूप में न झेल पाने की पुरुष मानसिकता की जैसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति ममता कालिया के बहुचर्चित उपन्यास *एक पत्नी के नोट्स* में हुई है— वह उन स्त्रियों की बेचैनी को सामने करती है जो अपनी मेधा और परिश्रम के बूते शिक्षा प्रतिष्ठान में, स्वयं को प्रतिष्ठित कर सकने के बावजूद घर में अपने पुरुष के अविश्वास और अहंकार की गुलाम बनी हुई है।

एक पत्नी के नोट्स की नायिका संवेदनशील कविता अपने आई.ए.एस. प्रेमी पति— संदीप से मानसिक और वैचारिक साझेदारी और परस्परता के अभाव में उससे असंतुष्ट अवश्य होती है, किंतु घर की महत्ता के प्रति अनास्थावान नहीं। आत्म-चिंतन करती हुई कविता, दुराग्रह न रखते हुए निःसंकोच स्वीकार करती है कि जो कुछ वह कर रही है या स्वीकारे चली जा रही है, वह उसकी अपनी भी जरूरत है...।

दरअसल ममता की स्त्री की स्वचेतना उपन्यास के आरंभ में गति पकड़ती हुई अंत तक पहुंचते हुए इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि दोहरे दायित्व के दोहन से क्षुब्ध, उसकी मुक्तिकामी नायिकाएं वैचारिकता रखते हुए भी, एक चढ़ान तक अस्मिता प्राप्ति के लिए आत्मसंघर्ष करती हुई अंतिम परिच्छेद तक पहुंचते-पहुंचते घर की सत्ता को सुरक्षित बनाए रखने की जिम्मेवारी स्वयं की ही मानती हैं।

नायिकाओं का ऐसा कोई भी विकल्प परिस्थितियों के सामने घुटने टेकना कदापि नहीं है, बल्कि स्वचेतना का ही विस्तारण है कि जो उनकी समाई और सहिष्णुता को दर्शाती है। बल्कि कहना चाहूंगी कि ममता की अति ईमानदार निजी अध्यापकीय सहिष्णुता का यह स्वचेतन स्फुरित विवेक ही है जो अपनी कक्षा के किसी भी विद्यार्थी के जीरो लाने पर भी उसमें सुधार की उम्मीद नहीं खोता।

कश्मीरी ब्राह्मण समाज में व्याप्त अंतर्कलहों को उजागर करने वाले चंद्रकांता के महत्वपूर्ण उपन्यास *ऐलान गली जिंदा है* में स्त्री के आत्मसंघर्ष को सर्वथा नई भावभूमि के साथ अधिक उत्कटता से स्त्री के चरित्र में महसूस किया जा सकता है।

छूत की बीमारी से स्वर्गवासी हुए रती के पति और श्वसुर के क्रिया-कर्म के लिए उसके आस-पास का ब्राह्मण समाज छूत के भय से आगे आने से कतराता है। क्षुब्ध स्त्री उनकी मौकापरस्त नीतियों का विरोध करती चमारों से शव उठाकर घर साफ करवा लेती है। पर 'ब्राह्मणों' के आगे झोली फैलाकर दया की भीख नहीं मांगती।

दिन के उजाले में संहिताएं वमन करते शरीर लोनों को स्त्री जब रात के अंधेरे में अपनी देह पर लार टपकाते देखती है तो पूरे मोहल्ले के सामने उन्हें आड़े हाथों लेने से नहीं चूकती। कम पढ़ी-लिखी स्त्री को अपनी क्षमता पर बहुत भरोसा है और उसका यही भरोसा अप्रकट रूप से उसमें विकसित स्वचेतना को रेखांकित करता है।

अपने उपन्यास *एक जमीन अपनी* में नारी चेतना आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में मैंने दिग्भ्रमिता के संकट को विवेचित करते हुए उन खतरों से आगाह किया है कि जिन्हें आज का अधिकांश पढ़ा-लिखा विचारशील होने का दावा करता हुआ स्त्री समाज स्त्री स्वतंत्रता, स्त्री समानता और उसके मानवीय अधिकारों की लड़ाई लड़ता हुआ भी नहीं जानता कि वे अधिकार वस्तुतः क्या हैं। कैसे होना चाहिए, किस रूप में होना चाहिए और उनकी सामाजिक छवि कैसी हो?

उपभोक्ता और संस्कृति को पोसने-परोसने वाले विज्ञापन जगत में संघर्षरत उपन्यास की नायिका अंकिता नारी मुक्ति से जुड़े उन ज्वलंत प्रश्नों से भी दो-चार होती है, जो आधुनिकता, वैचारिकता, समता और जीवन शैली के नाम पर संचार माध्यमों के जरिए एक सुनियोजित षड्यंत्र के तहत, पुरुष प्रधान समाज नारी को सौंप रहा है।

परंपरागत जीवन मूल्यों में जितना कुछ सार्थक, प्रासंगिक और मानवीय है, उसके प्रति नकारात्मक भाव न रखते हुए, नारी अस्मिता का वैचारिक संघर्ष अनेक स्तरों पर स्त्री सृजनात्मकता में अंतर्धारा के रूप में प्रवाहित होता हुआ समाज में अपने अपदस्थ मुकाम के लिए शोधरत है। चाहे वह राजी सेठ का उपन्यास *तत्सम* हो या शशिप्रभा शास्त्री का *कर्क रेखा* या स्नेह मेहिनीश का *नदी नहीं रुकती* या कुसुम अंसल का *उसकी पंचवटी* या ऋता शुक्ल का *अग्निपर्व* या पद्मा सचदेव का *अब न बनेगी देहरी* या सूर्यबाला का *मेरे संधिपत्र* या सिम्मी हर्षिता का *यातना शिविर*...

मेरी अनपढ़ देहाती अम्मा से मेरे अधिकारी पिता जब भी किसी पारिवारिक समस्या के संदर्भ में उनकी उपेक्षा करते हुए उनकी औकात बताना चाहते कि— "आखिर मैं तुमसे क्या पूछूँ-जांचू! दीन-दुनिया के बारे में तुम जानती ही कितना

हो?" तो उत्तर में मेरी अम्मा का आत्मविश्वास से भरा जवाब होता—

"ठाकुर साहब! हमारे चार बच्चे चारों दिशाओं से हैं। अलग-अलग कार्यक्षेत्रों से जुड़े-खटे दिया बाती की बेंरिया जब वे बाहर से लौटकर घर की देहरी लांघते हैं तो अपनी दिन भर की उगाही खट्टी-मीठी दुनिया हमारे आंचर में लाकर उंडेल देते हैं। आप कभी कुछ पूछ के तो देखो।"

ऐसी सैकड़ों कहानियां गिनाई जा सकती हैं जिनकी विषयवस्तु स्त्री लेखन में निरंतर आ रहे अनुभव वैविध्य और उनके अनुभूति विस्तार की ओर संकेत करती हैं; जिनका भीतरी संसार केवल स्त्री समस्याओं तक सीमित नहीं, उसके केंद्र में अब घर, बाहर, समाज— तीनों ही उपस्थित हैं— 'यारों का यार', 'वापसी', 'कपर्पू', 'राजा का चौक', 'उर्फ सेम', 'त्रिशंकु' (मनू दी) अपना आकाश, 'एक स्त्री का विरहगीत', 'लड़के', 'आपकी छोटी बेटी', 'कबाड़ी', 'बेशरम', 'बंदर और बाबूजी', 'अयोध्या से वापसी', 'शरणागत', 'दिनांत', 'अनुगूज', 'चिन्हार', 'कुत्ते की मौत', 'कितनी बार' आदि।

बावजूद इसके, क्या देश की दलित आधी आबादी के उत्पीड़न, शोषण का वंचनापूर्ण इतिहास सीमित विषय है? समाज की धुरी से खिसका हुआ एक पहिया उसे सही रफ्तार दे सकता है?

जिन खामियों, कमियों, वैचारिक विपन्नता का दोष 'अपने मुंह मियां मिट्टू बने' लेखक स्त्री रचनात्मकता में खोजते हैं, उसकी निष्ठा को संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं, कभी अपने गिरेबान में झांकने की फुरसत क्यों नहीं निकालते? स्वयं को ताने रखने के लिए रचनाकर्म में उन्हें जितनी बैसाखियों की जरूरत पड़ रही है उससे चौथाई भी अपने लिए पुहैया करने का दंड-फंद स्त्रियां अभी नहीं सीख पाई हैं।

यह संक्रमणता इस स्थिति को अधिक सुस्पष्ट करती है कि सृजन-कर्म में संलग्न स्त्री रचनाकारों को, जैसा कि मैंने इस आलेख में पहले भी इंगित किया है कि समीक्षकों की उपेक्षा से विचलित हुए बिना इस मोर्चे का सामना भी स्वयं समीक्षा कर्म में उतरकर, उतने ही दम-खम के साथ करना होगा, जिस निष्ठा के साथ वे रचनात्मक लेखन में सक्रिय हैं। अर्चना वर्मा, मृदुला गर्ग, राजी सेठ, प्रभा दीक्षित पर्याप्त नहीं।

यह जरूरी इसलिए भी है कि प्रायोजित समीक्षा कर्म से दिग्भ्रमित सुधी पाठक सही रचनात्मकता से परिचित हो सकें। क्योंकि उनके लिए सच और अर्थवान वही है जो साहित्य लगातार विज्ञापित होकर उन तक पहुंच रहा या पहुंचाया जा रहा है।

अंत में समकालीन महिला लेखन के संदर्भ में मैं इस बात को पुनः दोहराना चाहूंगी कि नारी चेतना की पैरवी रचनात्मक जगत में तब तक अधूरी, अर्थहीन सतही और अयथार्थवादी होगी जब तक देश की आधी आबादी की शेष पैतालीस प्रतिशत उत्पीड़ित ग्रामीण स्त्रियों की त्रासदी— चाहे वे सवर्ण-असवर्ण किसी भी वर्ग, समुदाय या कोटे से आती हों— की बुनियादी समस्याएं उकेरी नहीं जाएंगी। उनमें स्वचेतना प्रस्फुटित किए बिना नारी अस्मिता की खोज का आंदोलन केवल अपने स्वार्थों की झोली भरने और उगाहने का आंदोलन बनकर रह जाएगा जैसा कि अनेक स्तरों पर कुछ अवसरवादी स्त्रियां-पुरुषों की आत्म-उत्थान की राजनीति को भी मात देते हुए, नारी उद्धार की आड़ में अपनी यशी महत्वाकांक्षाओं की रोटियां सेंक रही हैं।...

□

नारी विमर्श की पुरोधा : महादेवी वर्मा

महादेवी की कविता की अपेक्षा उनका गद्य अभी भी अपनी ताजगी नहीं खो सका है। और इसी ताजगी का नमूना है उनकी एक अदभुत गद्य रचना शृंखला की कड़ियां जो स्वतंत्रता से पूर्व लिखी जाने पर भी स्त्री-विमर्श का सुंदरतम दस्तावेज है। यह रचना इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसमें न केवल स्त्री-विमर्श की आवाज बुलंद है अपितु वर्षों पूर्व जबकि स्त्री लेखन की धुंधली किरण अंधकार को चीरने में असमर्थ थी, स्त्री लेखन नेपथ्य में था या यों कहें कि आंशिक को छोड़कर स्त्री लेखन था ही नहीं, तब हिंदी में महादेवी का लेखन स्त्री लेखन का पुरोधा बन जाता है और यह वर्तमान बहस का हिरसा है कि महादेवी के स्त्री लेखन में स्त्रीत्व से साक्षात्कार का रोचक संवाद कायम है। यह रचना स्त्री का स्त्रीत्व से साक्षात्कार है। छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा के गद्य लेखन पर मृदुला जुगरान

सितंबर 1987 में छायावाद की अंतिम आराधना, अंतिम अर्चना महादेवी वर्मा इस नश्वर संसार से विदा लेकर अनश्वर में लय हो गई। उनके जाते ही हिंदी साहित्य का वह एक युग ही समाप्त हो गया जो आधुनिक प्रगतिशील और नूतन प्रयोगशील साहित्य को जन्म देने के कारण हिंदी का स्वर्णकाल कहा जाता है। उनकी काव्यमय साधना प्रसाद, पंत, निराला से सटकर भी अधिकांश में पृथक भावबोध से संपृक्त थी। उसमें दर्द था, सहज संवेदना थी, कोमलता का विस्तार था और वह मानवता के दरवाजे पर पीड़ा के द्वारा पीड़ा की मुक्ति हेतु दस्तक देती थी। जीवनपर्यंत वह साहित्य की अर्चना की आरती बनी रहीं। उनका साहित्य वेदना की अभिव्यक्ति होते हुए भी उन ऊंचाइयों को छूता है जहां मानवता स्पर्दित होती है। उनके विषय में डा. राजेंद्र प्रसाद के शब्द हैं— 'श्रीमती महादेवी वर्मा केवल उच्चकोटि की साहित्यकार ही नहीं, बल्कि भारतीय महिला की सांस्कृतिक परंपरा की प्रतीक भी हैं।'

24 मार्च, 1907 को होली के दिन उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद में जन्मी महादेवी जीवन के अंतिम क्षणों तक शब्दों की पिचकारियों में अनेक रंग भरकर कविता की होली खेलती ही रहीं। संस्कृत के ज्ञान ने उन्हें शब्द भंडार, दर्शन ने चिंतन और अध्यात्म, चित्रकला की अभिरुचि ने शब्दों को रंग तथा संगीत ने शब्दों में स्वर भरने का कार्य किया और इस तरह निर्माण हुआ एक वर्णगीतमयी जीवंत प्रतिमा का।

छायावाद की सभी सीमाओं का सफल निर्वाह करता हुआ इस युग का काव्य निराला की भाषा, पंत की चिंतनशील प्रवृत्ति तथा महादेवी की साहित्यिकता— इन तीनों में ही तीन विशेषताओं के आग्रह का प्रदर्शन है। प्रसाद तो छायावाद के प्रवर्तक होने के कारण अथ से इति तक इसमें व्याप्त हैं ही, फिर भी भारतीय संस्कृति और

पौराणिकता का आग्रह उनकी कविता की प्रथम विशेषता मानी गई है। अतः विश्लेषण के आधार पर महादेवी को साहित्यिक वातावरण से रस ग्रहण करती हुई साहित्यिक कविता की कवयित्री स्वीकारा गया है और बहुत-से पाठकों के मुख से यह भी कहते सुना गया कि महादेवी की काव्य संवेदना अत्यंत जटिल है। परंतु उनके गद्य की उस विशेषता को पाठक नजरअंदाज नहीं कर सकता जो उसके सामने अधिक ताजा और खुले हुए रूप में आया है। उनके पद्य को पढ़ने के लिए गद्य में जाने की आवश्यकता स्वीकारी गई है— 'महादेवी का गद्य अंतर्जगत और बहिर्जगत का रोचक संवाद प्रस्तुत करता है। कुछ है इस गद्य में जो इसे प्रसाद या निराला के गद्य से अलग एक वैशिष्ट्य प्रदान करता है। उसमें आपको अपनी बातों में उलझाए रखने की सामर्थ्य है। उनके चरित्र उनके



महादेवी वर्मा

मन की भाव-तरल परछाइयां ही नहीं हैं, वे वायवीय न होकर ठोस मानव आकृतियां हैं, जिन्हें उनका गद्य उनकी सजीव चरित्रिक हरकतों में उनके पूरे परिवेशगत यथार्थ को झलकाता है। यहां उनकी करुणा ठोस आलंबनों से परिभाषित है। वस्तुस्थितियों का पैनापन कुंठित नहीं होने दिया जाता। भावुकता का तकाजा वास्तविकता के तकाजे को धूमिल नहीं पड़ने देता बल्कि अभिव्यक्ति की परोक्षता उस यथार्थ को और ज्यादा नुकीला और ज्यादा सजीव बना देती है चाहे वह भक्तिन का इतिहास हो, चाहे जंग बहादुर का।'

पद्य के द्वारा महादेवी अंतर्जगत को सजाती हैं और गद्य के द्वारा बहिर्जगत को। उनका पद्य अंतर्जगत की सीमा का विस्तार है जबकि गद्य लिखते समय वह अंतर्जगत को पीछे धकेल देती हैं। वह कविता और गद्य के मुहावरे को बखूबी समझती हैं। समालोचकों ने उनके गद्य के उत्कर्ष पर दृष्टि डालते हुए टिप्पणी की कि— 'महादेवी

जब गद्य लिखने बैठती हैं तो उनकी आंखें मुंद जाती हैं और वह केवल अपने कानों से काम लेती हैं। ऐसा लगता है कि महादेवी को गद्य लिखने में जितना आनंद आता होगा, उनके पाठक को उसे पढ़ते हुए ज्यादा ही आनंद आता होगा। पर कविता करने में यदि उन्हें गद्य लेखन की अपेक्षा अधिक उत्तेजना महसूस होती भी रही हो तो यह एक दुखद तथ्य है कि उनके पाठक को ऐसा अनुभव नहीं होता। महादेवी की कविता का स्वाद आज हमारे लिए बासी पड़ गया है जबकि उनका गद्य अभी भी अपनी ताजगी नहीं खो सका।¹² और इसी ताजगी का नमूना है उनकी एक अद्भुत गद्य रचना *मृखला की कड़ियां* जो स्वतंत्रता से पूर्व लिखी जाने पर भी स्त्री-विमर्श का सुंदरतम दस्तावेज है। यह रचना इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसमें न केवल स्त्री-विमर्श की आवाज बुलंद है अपितु वर्षों पूर्व जबकि स्त्री लेखन की धुंधली किरण अंधकार को चीरने में असमर्थ थी, स्त्री लेखन नेपथ्य में था या यों कहें कि आंशिक को छोड़कर स्त्री लेखन था ही नहीं, तब हिंदी में महादेवी का लेखन स्त्री लेखन का पुरोधा बन जाता है और यह वर्तमान बहस का हिस्सा है कि महादेवी के स्त्री लेखन में स्त्रीत्व से साक्षात्कार का रोचक संवाद कायम है। यह रचना स्त्री का स्त्रीत्व से साक्षात्कार है।

उनके बाद तो लेखिकाओं का साहित्यिक प्रवेश कोई अनहोनी घटना नहीं थी और न ही महादेवी जी का उस युग में लेखिका होना कोई अनहोनी या विस्मयकारी घटना थी परंतु वर्षों बीत जाने पर जबकि इधर स्वतंत्रता परवर्ती महिला लेखिकाओं की बाढ़ रूढ़िगत मूल्यों का ध्वंस करने के लिए आतुर है तब नारी के द्वारा नारी विमर्श महादेवी को सार्थक महिला लेखन की पंक्ति में सबसे आगे रखता है। सुभद्राकुमारी चौहान भी हैं, जिन्हें महादेवी के सन्निकट बौना नहीं किया जा सकता, पर उनका लेखन आल्हा की तर्ज पर लिखे गए वीरतापूर्ण छंदों की परिधि से उठकर अपनी सीमा का विस्तार नहीं कर पाया जबकि महादेवी आज के स्त्रीवादी विचार और बहस के बीच आज भी जिंदा हैं। *मृखला की कड़ियां* को आधार बनाकर ही यह विचार व्यक्त किया जा रहा है। उन्होंने अतीत होती सदी में स्त्री के भविष्य पर ही चिंता व्यक्त नहीं की अपितु उसकी तह तक जाकर समस्याओं और संकट के उन्मोचन के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार की। यदि पाठक सजग हैं तो समस्या इतनी कानून से हल नहीं हो सकती जितनी वह अच्छे विचार, अच्छे लेखन और अच्छे संवाद से हल हो जाती है।

भारतवर्ष में स्त्री संदर्भित समस्याओं जैसे अशिक्षा, अंधविश्वास, कुरीतियों और महत्वपूर्ण कानूनों की भूमिका को लेकर महादेवी ने गहन चिंतन किया। वह चिंतन इतना गहरा और प्रभावशाली है कि वर्तमान स्त्रीवादी नारे और अर्थ क्षीण होते जाते हैं। उदाहरण के लिए आज का स्त्रीवादी नारा कह रहा है कि 'आज स्त्री सदियों के बाद एक भरपूर खुली सांस ले पाने में समर्थ है। परंपरागत समाज की नींव अगर स्त्री की शर्मिंदगी पर टिकी थी तो बेशक वह हिल उठी है। यदि आर्थिक आत्मनिर्भरता ही स्वाधीनता की कुंजी है तो जब तक स्त्री के पास देह है और संसार के पास पुरुष, तब तक स्त्री को चिंता की क्या जरूरत? जरूरत है तो देह को पुरुष के स्वामित्व से मुक्त करके अपने अधिकार में लेने की क्योंकि यौन शुचिता, पतिव्रत, सतीत्व जैसे मूल्य स्त्री के सम्मान का नहीं, पुरुष के अहंकार की दीनता और असुरक्षा का पैमाना हैं, पितृसत्ता के मूल्य हैं और स्त्री की बेड़ियां हैं। जिसने ये बेड़ियां उतार दी हैं वह स्त्री विशिष्ट है।'¹³

आप ही सोचिए कि विचारों के इन आधुनिकतम नारों में समाज को देने लायक क्या है? स्त्री स्वतंत्रता का विरोधी तो आज का पुरुष भी नहीं है, परंतु वस्त्र उतार नारी के देहमुक्त होने की रुग्ण मानसिकता को अत्यंत पीड़ादायक

और नैतिक मूल्यों में आसन्न संकट का खतरनाक संकेत अवश्य माना जा सकता है। महादेवी जार-जार रो उठतीं इन स्त्रीवादी नारों से। समस्याओं की जड़ तक जाने और झटके के साथ उन्हें काट फेंकने में काफी अंतर है और उस नासूर को जड़ से नष्ट करने के हल यदि लेखन के अंदर भी मौजूद हैं निःसंदेह कवि प्रसाद की उस दृष्टि को प्रणाम! जिसमें नर और नारी के संबंधों के रागात्मक तंतु सौहार्द और सामंजस्य पर टिके हुए हैं :

मनु तुम श्रद्धा को गए भूल !

उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया ज्यों समझ तूल

तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की

समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की !

(प्रसाद : कामायनी, इडा सर्ग)

आधुनिक स्त्रीवादी विचारों से सहमत समाज यह न समझे कि यहां नारी को पुरुष के प्रेम में फिट होने की विवशता की वकालत की जा रही है। नहीं! पुरुष भी नारी का अनुगामी रहा है, हरदम शरीर के बल पर नहीं, उसकी भीतरी शक्ति के बल पर। महादेवी नारी की इस शक्ति को शायद स्वयं में स्पंदित महसूस करती थीं। वह समस्या के साथ बचाव के लिए भी चिंतित थीं। उन्होंने प्रसादमयी दृष्टि से कहा-

'पहले की नारी जाति केवल रूप और वय का पाथेय लेकर संसार यात्रा के लिए नहीं निकली थी। उसने संसार को वह दिया जो पुरुष नहीं दे सकता था, अतः उसके अक्षय वरदान का वह आज तक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को संसार अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा जिससे विकृति भी उत्पन्न हो गई, परंतु उसके प्रतिकार के जो उपाय हुए वे उस विकृति को दूसरी ओर फेरने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके।'¹⁴

कौन ज्यादा स्वतंत्र और मुक्त है? रूप का पाथेय लेकर पुरुष को रिझाने की उत्कट लालसा से लबरेज जिस्म की गोलाइयों से आत्मतृप्त नारी या गृहस्थ का परित्याग कर पुरुष से दूर रहकर भी उसके प्रति कोमल अनुभूतियों को संजोती, छोटे कद, खादी की साड़ी में लिपटी, आंखों पर चश्मा और माथे पर आंचल डाले आत्ममुक्त नारी महादेवी?

ऐसा भी नहीं कि यह उनकी अभोप्सा की अतृप्ति से उपजी कुंठा है-'बचपन के भक्ति और धर्म के संस्कार, मां का दुलार और धुंधला कन्यामन, बुद्धिजीवी पिता की आत्मसम्मान की बेटी और समुदाय की धिक्कार- सब एकाएक मिलकर उनके मनोवैयक्तिक, सांस्कृतिक, सामाजिक नारी मन की आदिमता को धकियाने लगे।'¹⁵

वह पुरुष की गृहस्थिन के रूप में शायद इस कीर्ति को कभी न छू पातीं जो उन्हें गृहस्थी से विमुक्त होकर मिली, परंतु इस कीर्ति को पाने का तरीका नारी मुक्ति नहीं, बल्कि नारी शक्ति का आह्वान है। *मृखला की कड़ियां* में उन्होंने स्पष्ट किया कि-

'नारी में परिस्थितियों के अनुसार अपने बाह्य जीवन को ढाल लेने की जितनी सहज प्रवृत्ति है, अपने स्वभावगत गुण न छोड़ने की आंतरिक प्रेरणा उससे कम नहीं। इसीलिए भारतीय नारी भारतीय पुरुष से अधिक सतर्कता के साथ अपनी विशेषताओं की रक्षा कर सकती है, पुरुष के समान अपनी व्यथा भूलने के लिए वह कार्दबिनी नहीं मांगती, उल्लास के स्पंदन के लिए सालसा का तांडव

नहीं चाहती क्योंकि दुख को वह जीवन की शक्ति परीक्षा के रूप में ग्रहण कर सकती है और सुख को कर्तव्य में प्राप्त कर लेने की क्षमता रखती है। हमारी राष्ट्रीय जागृति इसे प्रमाणित कर चुकी है कि अवसर मिलने पर गृह के कोने की दुर्बल बंदिनी स्वच्छंद वातावरण में बल प्राप्त पुरुष से शक्ति में कम नहीं।⁶

महादेवी ने पश्चिम और पूर्व की स्थिति-परिस्थिति में जमीन-आसमान का फर्क बताया है। यों भी पश्चिम में नारी मुक्ति का आंदोलन वहां की परिस्थिति विशेष की देन है जबकि हम भारतीयों के पास अपना मौलिक चिंतन नहीं है, पश्चिम ने ऐसा किया है तो हम क्या कम हैं? - इसी गतानुगतिकता ने नारी के सामने समाधान कम और समस्याएं अधिक बढ़ाई हैं। पश्चिम के मिथक में तो नारी की उत्पत्ति पुरुष की पसलियां काटकर की गई मानी गई है इसलिए वहां नारी को भोगदासी के रूप में देखा गया। पश्चिम प्रकृति को स्त्रीलिंगी मानकर उस पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। पाश्चात्य महिलाओं को पुरुष की इसी मानसिकता से युद्ध करना पड़ा, अतः उसका विस्फोट 'नारी मुक्ति' के नारे में हुआ जो अधिकचरा और फूहड़ है।

नारी शरीर के चंद वस्त्रों को जलाने से नारी मुक्त नहीं हो जाया करती। मुक्ति तन की नहीं, मुक्ति मन की होती है और भारतीय मिथक में नारी शक्ति का केंद्र होने के कारण पहले ही मुक्त है। उसे सृष्टि की प्रथम गुरु माना गया। अर्धनारीश्वर ही हमारे यहां का आदर्श रहा है अर्थात् नारी और पुरुष दोनों परस्पर पूरक हैं और जहां परस्पर पूरकता है वहां भला कौन किससे मुक्त होगा? इसलिए नारी की सुप्त पड़ी शक्ति जागृत होकर समाज और राष्ट्र के कल्याण के निहितार्थ हो।

महादेवी का नारी लेखन नारी को दुर्बल और असहाय बनाने की दुष्प्रेरणा नहीं देता। वह मानती हैं कि नारी ने अपनी शक्ति को नहीं जाना- 'हमारे समाज ने उसे पाषाण प्रतिमा के समान सर्वदा एकरूप एकरस कंपन और विकास से रहित होकर जीने की आज्ञा दी है अतः युगों से इसी प्रकार जीवित रहने का प्रयास करते यदि वह निर्जीव-सी हो उठी तो आश्चर्य ही क्या है! नारी जाति समाज को अपनी शक्ति से अधिक देकर अधिक त्याग स्वीकार कर संज्ञाहीन-सी हो गई है।'⁷

महादेवी की रचनाधर्मिता भी चाहती है कि स्त्रियां अपने अधिकारों के लिए पुरुष समाज से प्रश्न पूछें। आधुनिक धारदार महिलाएं तो मंकों पर स्त्री मुक्ति का सही अर्थ समझे बगैर मुक्ति-मुक्ति की गूहार लगाए फिर रही हैं यानी मुक्ति का नारा या प्रदर्शन भी यदि पुरुष को ही प्रभावित करने के लिए दिया जाना है तो यह कैसा नारा और कैसी मुक्ति है? मुक्ति के सही अर्थ तो महादेवी में रचे-बसे थे जिन्होंने स्वतंत्र रहकर भी समाज में अपने को स्थापित किया। 'यह मेरा शरीर है, इसके बारे में फैसला करने का अधिकार मुझे ही होना चाहिए।' ऐसा कहने वाली स्त्री मुक्ति की हिमायती आधुनिक महिलाओं से यदि सम्मेलनों में प्रश्न पूछ जाते हैं कि आप में से कितनी ऐसी हैं जो पति, घर-परिवार से बिना पूछे, बिना सूचित किए यहां आई हैं तो एक भी स्त्री ऐसी नहीं मिलती जो पति घर को बिना सूचना दिए आ गई हो। तो फिर घर-परिवार और समाज को तोड़कर स्वतंत्र होना कितनी बुद्धिमत्ता है? नारीत्व की उपेक्षा से तो समस्या का समाधान नहीं हो सकता। पहले स्वयं को बदलना होगा तब नारे लगाने होंगे।

महादेवी समस्याओं के मूल तक जाने की सामर्थ्य रखती हैं। वर्षों पहले लिखी

गई इस रचना में वर्तमान स्त्री का सच और स्वतंत्र छवि की व्याख्या अत्यंत सटीक है। आज हम आस-पास स्त्री देह प्रदर्शन के नजारे देखने के अभ्यस्त हो चुके हैं। यह सब पश्चिम की नकल पर हो रहा है और उपभोक्तावादी इस संस्कृति में स्त्री सौंदर्य का ऐंद्रजालिक बाजार खड़ा होता जा रहा है। जहां नारी की अंतिम नियति भोग्या बनना है जो उसने अपने रमणीत्व के प्रदर्शन से बनाई है। 'नारी का रमणीत्व नष्ट नहीं हो सका चाहे उसे गरिमा देने वाले गणों का नाश हो गया हो। यदि पुरुष को उन्मत्त कर देने वाले रूप की इच्छा नहीं मिटी, उसे बांध रखने वाले आकर्षण की खोज नहीं गई तो फिर नारीत्व की ही उपेक्षा क्यों की गई- यह कहना कठिन है।'⁸

यह तो अधूरी क्रांति हुई।

खेद का विषय है कि स्त्री मुक्ति के अनेक सवाल के बीच देह का विमर्श बहुत भद्दे और खौफनाक रूप में हमारे सामने आया। फलतः स्त्री पर होने वाले बलात्कार में दिन-ब-दिन इजाफा हुआ है। बीसवीं सदी में जन्म लेने वाले उग्र नारीवाद ने भारतीय स्त्री की प्रज्ञा को बुझा दिया है। 'इस उग्र नारीवाद ने मातृत्व को स्त्री की पांव की बेड़ी बताया और एकदम विपरीत पूर्वग्रह को जन्म दिया। यहां तक कि गर्भपात के अधिकार को नारी स्वातंत्र्य का पर्याय बना दिया। विडंबना देखिए कि लड़ाई छिड़ी पश्चिम में और गर्भपात का निर्बाध अधिकार मिल गया हिंदुस्तानी औरत को।'⁹

एक ओर इस तरह की निर्बाध मुक्ति और दूसरी ओर अभी-अभी पश्चिमी बंगाल के एक इलाके में एक लड़की की शादी कुत्ते से कर दी गई है क्योंकि उस इलाके में ऐसा अंधविश्वास है कि पशु के साथ उसका संस्कार करके वह मनुष्य गोत्र से इतर की होकर अपने दुर्भाग्य से छुटकारा पा लेती है। उसका दुर्भाग्य कुत्ते पर चला जाता है।¹⁰

एक सदी का अवसान हो गया तो स्त्री का भविष्य क्या बना? यह या वह! जाहिर है, महादेवी नारी की इस या उस मुक्ति के बीच रास्ता बनाती हुई उसके जीवन की फुलवारी को देखभाल करती चलती हैं। इतना अंधविश्वास कि नारी सदियों पीछे चली जाए और इतनी स्वतंत्रता कि वह देह के बाजार की मोम की गुड़िया बनकर सभ्यता-संस्कृति को दुराचार के भलबे के नीचे दबा दे। ये दोनों ही स्थितियां महादेवी की दृष्टि में घातक हैं, विपदा की सूचक हैं। जहां तक नारी समस्या का प्रश्न है तो स्त्री और घर, स्त्री और कानून, स्त्री और तलाक, स्त्री और शिक्षा, स्त्री और वेश्या, स्त्री और सतीत्व, स्त्री और मर्दवादी सोच, स्त्री और नौकरी, स्त्री और देह, स्त्री और अंधविश्वास, स्त्री और शक्ति, स्त्री बनाम ऊर्जा- इन अनेक संदर्भों पर उनकी पैनी कलम सकारात्मक ढंग से चली है। इन समस्याओं के बीच स्त्री के लिए शिक्षा की अपरिहार्यता की पुरजोर मांग की गई है।

सत्य है- बिना शिक्षित हुए स्त्री अपना विकास नहीं कर सकती- 'सच तो यह है कि पहली बार स्त्रियों ने खुद अपने लिए सोचना शुरू किया है। इसलिए मर्दों की दुनिया में छिपा हुआ हाहाकार हम पाते हैं। लेनिन ने जब कहा था कि 'महिलाओं को चौके से बाहर निकालो' तो अनायास ही नहीं कहा था। उन्हें मालूम था कि महिलाओं को यह घुट्टी में पिलाया जाता है कि तुम्हारी कर्मस्थली और मरणस्थली सिर्फ चौका ही है।'¹¹

महादेवी की दृष्टि में शताब्दियों से अपने अधिकारों से वंचित नारी के जीवन

में बदलाव आना चाहिए। भारतीय नारी ने यह आवाज अनायास नहीं उठाई। पुरुष की अति ही विद्रोह को जन्म दे बैठी- 'कोमल तूल-सी वस्तु भी बहुत दबाए जाने पर अंत में कठिन जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्होंने को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया।'¹²

वह भारतीय स्त्री की प्रगतिशील छवि का आदर करती हैं परंतु प्रगतिशील होने के लिए स्त्रियों द्वारा चुने गए क्षेत्रों के कारण स्त्री जीवन में आई विद्रूपताओं, विसंगतियों और दोषों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी बेहिचक करती जाती हैं। स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने वाली प्रगतिशील स्त्री की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि 'उस करुण युग के अनुष्ठान में भाग लेने वाली स्त्रियों ने जीवन की सारी सुकोमल कला नष्ट करके संसार-संग्राम के विद्रोह को अपना अमोघ अस्त्र बनाया। अनंत काल से स्त्री का जीवन तरल पदार्थ के समान सभी परिस्थितियों के उपयुक्त बनता जा रहा है इसलिए उसकी कठिनता आश्चर्य और भय का कारण बन गई।'¹³

घर से बाहर नारी के कार्यक्षेत्रों की मीमांसा भारतीय नारी के संदर्भ में, करती हुई वह कह रही हैं- 'प्रगतिशील देशों में स्त्रियां तो इस तथ्य को समझ रही हैं कि स्त्री के लिए घर उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष के लिए। भारतीय स्त्री ने अभी तक इस समस्या पर निष्पक्ष होकर वैसा विचार नहीं किया।

औरत के लिए कानून बनाने वाले मर्दों के सामने औरत जब वकील होकर आई तो अवश्य ही एक सुगुणाहट ने जन्म लिया होगा। 'आज अमेरिका में तेईस प्रतिशत महिला वकील मानी गई हैं।'¹⁴

महादेवी ने तो इस विमर्श में बहुत पहले हिस्सा ले लिया था कि- चिकित्सा के समान कानून का क्षेत्र भी स्त्रियों के लिए उपयोगी है। पुरुष को वकील स्त्री से विवाह करने में भयभीत नहीं होना चाहिए।'¹⁵

आज भी कानून मंत्रालय और न्याय से जुड़े संगठनों में भारतवर्ष में महिला वकीलों की संख्या बहुत कम है। हिंदू स्त्री की व्यथा को प्रकट करने वाली हिंदी की पहली प्रगतिशील लेखिका संभवतः महादेवी ही हैं। उन्होंने भारतीय स्त्री की सामाजिक स्थिति के इतिहास को अत्यंत धनौना बताया। स्त्री को लेकर भारतीय समाज आज भी कुंडा से पीड़ित है- 'यदि लड़की के जन्म के साथ विवाह की चिंता न कर उनके विकास के साधनों की चिंता की जाए, उनके लिए रुचि के अनुसार कला, उद्योग-धंधे तथा शिक्षा के दरवाजे खुले हों, जो उन्हें स्वावलंबी बना सकें तब अपनी शक्ति और इच्छा को समझकर यदि वे जीवन संगी चुन सकें तो विवाह उनके लिए तीर्थ होगा।'¹⁶

महादेवी जी में स्त्री-विमर्श का गुण अत्यंत जागरूक है। आज स्वतंत्रता परबती महिला लेखिकाओं, जैसे- मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, निरुपमा सेवती, उषा प्रियवंदा, मैत्रेयी पुष्पा, कमल कुमार, राजी सेठ, कृष्णा सेबती का लेखन भी नारी को केंद्रबिंदु मानकर लिखा जा रहा है, जिसमें घर, समाज, परिवार, यौन, प्रेम, संभ्रांस, टूटन, घुटन को कभी सरल और कभी जटिल फंतासियों से अभिव्यक्त किया गया है, नारी आज काफी हद तक हर क्षेत्र में कार्य कर रही है इसलिए उसकी स्वतंत्रता के मायने भी परिवर्तित हुए हैं। फिर भी घर और परिवार नारी की सबसे बड़ी समस्या भी है और समाधान भी। इस बिंदु पर महादेवी ही सबसे पहले चर्चा करने वालों में हैं जिसमें स्वतंत्रता के साथ परंपरा को बचाने का आग्रह है। सारी सामाजिक व्यवस्थाओं का प्राण उसकी रूपरेखा का आधार स्त्री और पुरुष का

सामंजस्यपूर्ण संबंध है जिसके बिना समाज का ढांचा बालू की दीवार के समान गिर जाता है। नारी की इस मातृत्व छवि के प्रति महादेवी नतमस्तक थीं जिसको आज स्त्रीवादी नारों के बीच भार दिया गया है। उन्होंने नारी के लिए शिक्षा की वकालत इस हद तक की है कि यदि नारी शिक्षित हो जाए तो समाज का सारा ढांचा स्वतः ही सुधर जाएगा। नारी तब स्वतंत्रता के सही अर्थों को समझने लगेगी। तब पुरुष भर्ता न रहकर उसका सहयोगी हो जाएगा। मृंखला की कड़ियों से वह सभी मुक्त पा सकेगी।

आज जिस तरह सौंदर्य की हाट को स्त्री के प्रगतिशील होने के रूप में आंका जा रहा है, महादेवी ने वहां वर्जनाएं लगाई हैं। वह नहीं चाहती थीं कि रूप व्यवसायिनी स्त्री की उपस्थिति से समाज में मलिनता आए और स्त्री की यथार्थ शक्ति विकृतियों की दासी बन जाए। इस समस्या को गहरे ढंग से रखती हुई वह कहती हैं-

'स्त्री पत्नी बनकर पुरुष को वह नहीं दे सकती जो उसकी पशुता का भोजन है। इसी से पुरुष ने कुछ सौंदर्य की प्रतिमाओं को पत्नीत्व तथा मातृत्व से निर्वासित कर दिया। वह स्वर्ग में अप्सरा बनी और पृथ्वी पर वीरगंगा।'¹⁶

देह का प्रदर्शन उसकी उच्छृंखलता ही तो है। आज विज्ञापनों में अपने शरीर का प्रदर्शन करने वाली नारी के भविष्य के संकट को उन्होंने दूर से ही भांप लिया था और चिंता जताई कि 'आज तो नारी के बिना कोई भी वस्तु नहीं बिकती। नारी सौंदर्य प्रसाधनों की तो आप बात छोड़िए, दुख तो तब होता है जब नारी के बिना सिगरेट नहीं बिकती; और तो और ब्लेड नहीं बिकती।'

पत्र-पत्रिकाएं स्त्रीमय होकर ही बिकती हैं। यह लज्जास्पद बात है। इस तरह सितंबर 1987 में असीम ऊर्जामयी इस नारी का लेखन संगीत विश्ववीणा को झंकार बनकर परोक्ष सत्ता में विलय हो गया। विश्वमंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराकर वह सदा के लिए अमर हो गई और हमारे समक्ष रख गई अपना लेखन, जो उन्हीं के समान पाठक का तीर्थ है। तीस-चालीस के दशक में भारतीय नारी की आवाज को उन्होंने जिस बुलंदी से उठाया वह सार्थक महिला लेखन के क्षेत्र का मील का पत्थर है। वर्तमान नारी लेखन के लिए चुनौती भी है और चेतावनी भी। उन्होंने नारी अधिकारों की आश्चर्यकारी विवेचना करते हुए जब यह कहा कि 'भारतीय नारी भी जिस दिन अपने संपूर्ण प्राण वेग से जाग सके, उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं। उसके अधिकार न भिक्षावृत्ति से मिलें हैं, न मिलेंगे क्योंकि वे उनकी आदान-प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न हैं। समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है।'¹⁷

तब यह इस बीती सदी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नारी लेखन स्वीकारा जाएगा। इसमें तनिक भी संदेह नहीं। मृंखला की कड़ियां युगों से अभिशप्त भारतीय नारी को ही समर्पित की गई विराट रचना है। □

संदर्भ

1. रमेशचंद्र शाह, छायावाद की प्रासंगिकता, पृ. 98; 2. वही, पृ. 99; 3. हंस, फरवरी 2000, वक्तव्य, राजेंद्र यादव, पृ. 4; 4. महादेवी वर्मा, मृंखला की कड़ियां, पृ. 36; 5. जनसत्ता, 20 सितंबर 1987, वक्तव्य, कृष्णदत्त पालीवाल; 6. महादेवी वर्मा, मृंखला की कड़ियां, पृ. 32; 7. वही, पृ. 45; 8. वही, पृ. 54; 9. हंस, फरवरी 2000, आलेख, मृदुला गर्ग, पृ. 167; 10. अमर उजाला, 21 जुलाई 2000; 11. क्षमा शर्मा, स्त्री का समय, पृ. 15; 12. महादेवी वर्मा, मृंखला की कड़ियां, पृ. 57; 13. वही, पृ. 63; 14. क्षमा शर्मा, स्त्री का समय, पृ. 99; 15. महादेवी वर्मा, मृंखला की कड़ियां, पृ. 99; 16. वही, पृ. 115; 17. वही, भूमिका भाग

कोलंबस की यात्रा

मीराकांत

रेखांकन : श्रवणकुमार शर्मा



“जिंदगी से ऊबा हुआ आदमी मैगजीन के पन्ने पलटता है,” कहते हुए कानन ने काफी का घूंट भरा, “जब किसी से पूछो— क्या कर रहे हो तो यही जवाब कि— कुछ नहीं, मैगजीन देख रहा हूँ...किताब पढ़ने का तो कल्चर ही नहीं रहा।”

“पर लिखने का तो बड़ रहा है...रोज नए उपन्यास...नए लेखक...नए पुरस्कार...” ऋचा मेज लगा रही थी।

“वो तो है, पर लोग कुछ जल्दी में लगते हैं...ठहरकर सोचने, महसूस करने का वक्त नहीं है किसी के पास!” बशीर ने जोड़ा।

“और साहित्य की समझ? आजकल कहानी या उपन्यास कैसे पढ़ा जाता है? कहानी न हुई, नींबू हो गया। निचोड़कर रस ले लो जल्दी से...रस उनके लिए सिर्फ कथानक है...टेक्सचर नाम की कोई चीज होती ही नहीं मानो...उसकी लहरों को तह-दर-तह छूकर देखने की ताब कहां है! कहानी पर बात करेंगे तो ये वाद और वो वाद...उसकी बुनावट, उसके प्रतीक जीरो...” ऋचा की दोपहर की खीझ उसके इर्द-गिर्द ही थी कहीं।

“अभी हाल ही में एक जूते का विज्ञापन देखा था ... सेल के समय ... कैजुअल मिसचीविअस पैशन...,” कानन कह रही थी, “जूता पहनिए, कुछ समय इस्तेमाल कीजिए और फेंक दीजिए...जिंदगी की शैली अब यही जूते का विज्ञापन है... हम संबंधों को ऐसे ही ले रहे हैं शायद...वे कैजुअल भी हैं, मिसचीविअस भी हैं और पैशन भी उनमें खूब है।”

कानन ने पाया कि बशीर और योगेश दोनों ही उसे ठहरकर देख रहे थे। कानन से नजर मिलते ही योगेश ने नजर हटा ली और मूछों के नम किनारों को रुमाल से पोंछने लगा। ऋचा को कानन का यूँ एक चौड़ी सड़क से अचानक किसी गली में मुड़ जाना कुछ असह्य लगा, “मगर हम तो...”

“हां, वही तो,” कानन ने बात पूरी की, “वही तो कि समय कम है। टिकाऊ वाली बात अब साहित्य में भी लोग कम ही करते हैं।”

बशीर ने घूमकर मेज के पास खड़ी ऋचा की ओर रुख किया, “ऋचा, अगर मैं आपसे कहूँ कि कथा लेखन क्या है तो आप एक वाक्य में क्या जवाब देंगी?” बशीर प्रवाह का रुख बदलना चाहते थे शायद, जिसे ऋचा ने समझ लिया था। चाहती शायद वह भी यही थी। उसने मेज पर आखिरी

चम्पच रखा और कुछ सोचते हुए सोफे के पास वाली कुर्सी पर बैठ गई। सबकी निगाहों को अपनी ओर पाकर वह कुछ अचकचा गई। फिर उसने प्रवाह को गति दी जो गति से कहीं अधिक भंवर था, "तो मैं कहूंगी कि कथा लेखन...शायद...शायद कोलंबस की यात्रा है...निकला कहीं के लिए जाता है और पहुंच कहीं और जाते हैं।"

"भई वाह! इतनी सीधी और आसान बातें तुम कब से करने लगों जो मुझे भी समझ आ जाए।" बहुत देर से खामोश बैठे योगेश ने उत्साहित स्वर में कहा। कमरे की हंसी में बशीर का ठहाका गूंज उठा, "अब तुम ये समझ गए हो तो जल्दी ही ऋचा को भी समझ जाओगे।"

"तो दोस्त, ज्यादा बुलाया करो न अपने यहां...शायद मेरा भी कुछ भला हो जाए।"

योगेश ने बातों का रुख मोड़ दिया था। तभी खुले दरवाजे से हेमंत और सुमित्रा ने प्रवेश किया। बशीर ने उठकर उनका अभिवादन किया, "योगेश...हेमंत से तो तुम मिले ही हो...ये हैं सुमित्रा यानी श्रीमती हेमंत। सुमित्रा और हेमंत में बहुत कुछ मिलता है...मिसाल के तौर पर दोनों बहुत डीसेंट हैं...।"

कमरे में गूंजते ठहाकों के बीच हेमंत ने योगेश से हाथ मिलाते हुए कहा, "शायद आभास ऐसा ही देते हैं।"

बशीर ने बात जारी रखी, "दोनों हिस्ट्री पढ़ाते हैं...पर हां, अलग-अलग कालेजों में...हेमंत तो हमारे कलीग हैं...सुमित्रा किरोडीमल में हैं...। बाकी लोगों से परिचय है ही...क्यों हेमंत?"

"बाहो तो दोबारा करा दो," मुस्कराते हुए हेमंत ने कहा। सुमित्रा कानन के पास बैठ चुकी थी।

"आप लोगों को साथ-साथ देखकर बहुत अच्छा लगता है...।" सुमित्रा ने पल्ला संभालते हुए कहा।

कानन ने जवाब में प्रश्न भरी निगाह उस पर डाली और ऋचा के पास खिसक आई- "क्यों?"

"सोचती हूँ, कैसी दोस्ती है आपकी...उम्र के साथ-साथ दोस्ती भी बढ़ गई मानो।"

सच तो है, ऐसे साथ-साथ बड़े हुए बचपन से...अब तो कभी-कभी एक-दूसरे के बारे में ऐसा लगता है, मानो कोई खुद अपने को देखता हो। सोचा ऋचा ने पर कहा, "कानन, इसकी बातों पर मत

जाना...आज जरूर नजर लग जाएगी।" ऋचा की आवाज में शरारत थी।

"नहीं, नहीं...आज के जमाने में मिसाल हो सकती हैं आप दोनों...नजर नहीं लगेगी...।" सुमित्रा ने झट बात को संभाला।

कानन मुस्करा दी, "कुछ ले लो पहले...चाहो तो वो नींबू-पानी या मेरी तरह काफी।"

सुमित्रा कुछ सोचते हुए कह उठी, "नींबू-पानी ही चलेगा।"

"क्या लोगे...बियर या व्हिस्की?" बशीर ने हेमंत से पूछा।

"बियर ही ठीक रहेगी...मैंने आजकल बहुत कम कर दिया है।" हेमंत ने कहा और बशीर के पीछे-पीछे पास ही मेज पर रखी बियर की ओर चल दिया।

"भई अपना तो तय है। रोज रात को पीना जरूरी है...चाहे कुछ भी पिएं, चाहे थोड़ी ही पिएं।" बशीर ने गिलास में बियर उंडेलते हुए कहा।

"ये तय वाली बात कुछ समझ नहीं आई... तय करना था तो कुछ और करते...यही क्यों?"

हेमंत को गिलास थमाते हुए बशीर पहले मन ही मन हंसे फिर जबाब दिया, "राज की बात बताऊं...अपने यहां दो फरिश्ते हैं- मुन्कर और नकीर...ये दोनों कब्र में हिसाब मांगने आते हैं अच्छे - बुरे का...और साहब जरूर आते हैं...आप इनसे बच नहीं सकते...मगर सुना है कि मौत से एक रात पहले अगर किसी ने शराब पी हो तो ये दोनों उसके पास नहीं जाते...इसलिए यार, मैं रोज रात को पीता हूँ, न जाने कब मर जाऊं! उनसे तो बचूंगा।"

होटों के किनारे पर बियर की झाग को पोंछते हुए हेमंत रूमाल में हंसा। कमरा पुरुष स्वर के ठहाकों से भर गया कुछ लम्हा। ढलान की ओर जाते हुए ठहाकों ने बशीर की आवाज की संजीदगी को ऊपर की ओर आते देखा, "न जाने पीने पर फरिश्तों को एतराज क्यों होता है क्योंकि शर्श यानी कि शरारत तो दिमाग में होती है बाकी तो साहब आब ही आब है।"

योगेश ने सुमित्रा की ओर चिप्स की प्लेट बढ़ाई- "काफी देर से आप लोगों का इंतजार हो रहा था।"

"जी...आज ट्रैफिक कुछ ज्यादा ही था...आप भी किसी कालेज में?" चिप्स उठाते हुए सुमित्रा ने

बात आगे बढ़ाई।

"नहीं नहीं," योगेश की हंसी छूटने को हुई, "मेरा न पढ़ाने से कोई संबंध है न लिखने से। आई एम द ऑड वन आउट हियर।"

"तो आप...?"

"मुझे फाइलों का कोड़ा...कंप्यूटर का वायरस कुछ भी कहा जा सकता है...वैसे मैं प्रशासन और प्रबंधन से ज्यादा जुड़ा हूँ।"

"पर आप कहाँ हैं?" सुमित्रा को जवाब दिलचस्प लगा था पर वह लोकेट नहीं कर पाई थी कि योगेश कहाँ काम करते हैं।

"मैं एक शिक्षा संस्थान में हूँ।"

"तब तो आप नहीं कह सकते कि आपका पढ़ाने से कोई रिश्ता नहीं।" सुमित्रा के चेहरे पर मुस्कराहट थी।

"आप कहती हैं तो मान लेते हैं।" एक बड़ा-सा घूंट भरते हुए योगेश ने जवाब दिया।

कानन ऋचा के बहुत पास खिसक आई थी, "क्या हुआ...आज तू कहाँ है?"

"क्यों? क्या हुआ?" सवाल के जवाब में सवाल प्रस्तुत था।

"कैसी रही तेरी मुलाकात?"

"याद मत दिला मुझे...", दुखी आवाज में ऋचा ने कहा, "ऐसा क्यों होता है कानन...इतना श्रेष्ठ साहित्य देने वाला व्यक्ति जीवन में इतना घटिया कैसे हो सकता है! "

ऋचा की आवाज के दर्द को आत्मसात करते हुए कानन ने कहा, "ये दो अलग बातें हैं ऋचा... भला मैं क्या बताऊंगी तुझे...बस इतना ही समझ कि कभी-कभी लहरें जितना ऊपर उठती हैं, नीचे उतना ही गहरा गड्ढा छोड़ जाती हैं।"

"लगता है, कोई सीरियस डिस्कशन हो रहा है?" बशीर सेटी को सोफे के पास खिसकाकर उस पर बैठ चुके थे।

"हां...बस यही बात हो रही थी कि...", ऋचा कुछ कहने जा रही थी कि कानन ने बात को संभाला, "कि वो क्या है जो एक कहानी को कहानी बनाता है।"

"वो क्या है...", बशीर ने दिमाग पर जोर डालते हुए कहा, "कुछ वाक्यात और उन्हें कीलें

की तरह गाड़ने के लिए अल्फाज...इजहारे बयां।”

कानन और ऋचा दोनों खामोश रहे तो बशीर ने कुछ सूंघते हुए कहा, “बात कुछ और थी...।”

ऋचा ने बात बनाई, “नहीं यही थी...और यह भी कि वो क्या है जो लेखन में निखार लाता है।”

“तो ये तो आप बताइए वो क्या है,” बशीर समझ चुके थे कि बात को टाला जा रहा है, “बताइए न ऋचा...।”

“असल में जब जिंदगी असाधारण हो ... बने-बनाए ढर्रे पर न चल रही हो, अनुभव की पतें बेहिसाब हों तभी कलम में दम आता है।” जवाब कानन ने दिया।

ऋचा को खामोश देखा तो कानन फिर बोली, “प्रतिभा की कमी नहीं है लोगों में, पर संघर्ष नहीं है भीतर ... तभी कुछ अच्छा लिख नहीं पाते...।”

ऋचा गंभीर हो चली थी, “ग्रह-नक्षत्रों को प्रकट करने वाला अंधकार ही होता है, सुखों की रोशनी नहीं। आपदाएं लेखन में तेजस्विता लाती हैं.. देखो, कितने ही महान लेखक थे जिनकी मां नहीं थीं या पिता नहीं थे... या फिर वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था... कितनों का तलाक हो गया... कितने ही जीवन भर यस यूं ही विवाह ढोते रहे...,” ऋचा ने ठहरकर सांस-सी ली, “नहीं होता, इसके बिना नहीं हो पाता... जीवन की सुख-सुविधाएं आदमी में जंग लगा देती हैं। इसके बिना नहीं हो पाता...।”

बशीर ने बात काटी तो चर्चा का स्वभाव बदल गया, “सुनिए ऋचा, आप ऐसा कुछ मत कर बैठिएगा... मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि मैं आपके उपन्यास या किसी महान कहानी के बिना भी जी लूँगा और मेरा खयाल है, योगेश भी निभा ही लेगा जिंदगी।”

बशीर की बात ने ऋचा को हंसा दिया पर उसने महसूस किया कि आज यहां पार्टी में वह कुछ ज्यादा ही परेशान लग रही है। अपने विचारों को झटकते हुए वह उठ खड़ी हुई, “खाना लगाएं क्या?”

कानन समझ रही थी कि ऋचा काफी डिस्टर्ब्ड है। उसका मन वहां से हटाने के लिए कहे गए बशीर के वाक्य उसे बहुत भले लगे थे। ऋचा और बशीर रसोई में जा चुके थे पर कानन के चेहरे पर उस वाक्य से उभरी मुस्कान की आभा अभी बरकरार थी।

रसोई से भोजन मेज पर लगाया जा चुका था। हर बार की तरह के तयशुदा मेन्यू- बिरयानी और रायते के बीच चिकन टिक्का पाकर मेहमान कुछ हैरान थे।

“ये चिकन टिक्का हमारी दुनियादार दोस्त ऋचा की तरफ से...क्या कहते हैं वो आपकी हिंदी में- साभार...।”

प्लेटों और चम्मचों के शोर में घुली छितराई बातों की धुंध में भोजन के बाद माहौल सुस्ताने लगा था। ऋचा-योगेश और हेमंत-सुमित्रा के विदा होने के साथ ही पार्टी भी विदा हो ली थी।

कानन ने खुद को सोफे पर ढीला छोड़ दिया, “बखूबी निभा लेते हैं आप ये सब भी... मैं तो थक जाती हूँ इतनी बातों से...।”

“ये भी जरूरी होता है जिंदगी में...,” कुछ सांसें खींचने के बाद बशीर ने जोड़ा, “फिर मुझ जैसी सुनसान जिंदगी में तो ज्यादा ही... सब आपकी तरह किताबों से तो नहीं भर सकते जिंदगी को...।”

कानन मुस्कुरा दी और उठने का उपक्रम किया, “चलें फिर।”

बाहर निकलकर कानन ने ऊपर की ओर देखा। तारों के शोर से आसमान भर उठा था। कितना मुरिकल है तारों की संख्या जान पाना! या शायद असंभव! उसी तरह जिस तरह यह जान पाना कि किसके मन में कितना राग, कितना अनुराग या कितना विराग है। बस शायद एक निर्वेद होता है जो पार्व के निर्जन में लगातार गिरता रहता है निर्झर-सा। कानन ने पलटकर बशीर की ओर देखा। वे कानन के इस तरह अचानक उठकर चल देने से निर्वाक थे और उसके पीछे-पीछे इस तरह निकलकर आए थे कि न जाने कब क्या घटित हो जाए जिसे संभालने के लिए उन्हें सतर्क रहना हो।

कानन ने बाएं हाथ को हिलाते हुए हल्के से ‘बाय’ बुदबुदाया और गाड़ी की ओर बढ़ गई। बशीर उस धुएं को हवा में खोकर मिटता देखते रहे ... देर तक।

इधर कुछ असें से रात में सुनसान खाली सड़कों पर ड्राइव करना कानन को भाने लगा था क्योंकि ऐसे में अकेलेपन का एहसास प्रायः नहीं होता था। स्मृतिगंधा कानन को किसी पुराने बक्से की सुगंध-सी महसूस होती थी और यह सुगंध अक्सर पास ले आती थी मां की स्मृति को, जो आकाश-सी

व्यस्तताओं के आलोक में तारों की भांति विस्फूट-सी लगती थी। मां...क्यों चली गई मां उसे यों छोड़कर! सालों तक उस पलंग पर मां का लेटे रहना भीतर के गुंबद में ‘सर्व दुखम् दुखम्’ की प्रतिध्वनि के स्याह भंवर उठाता रहता था। मगर मां का उस घर, उस कमरे, उस चारपाई पर वहां होना उन उदास भंवरो के धुएं में चंदन की शीतल सुवास घोल देता था।

“हर प्राण को रहने के लिए एक देह चाहिए कुक्कू... बस इसीलिए शायद मैं हूँ... प्राणों का बोझ ढोने के लिए।”

गाड़ी की स्टेयरिंग पर उंगलियों का कंपन महसूस हुआ तो कानन ने गेयर बदल लिया। गाड़ी कुछ तेज हुई। बशीर कहां मिल पाए थे मां से, पर डा. दिवाकर तो मिले थे। बल्कि मां की वजह से ही वह डा. दिवाकर से मिली थी।

रस्सी बंटते हुए व्यक्ति जितना पीछे होता जाता है, रस्सी उतनी लंबी होती जाती है। बल्कि यों कहें कि रस्सी की लंबाई के लिए जरूरी हैं पीछे होते जाना। बब्बा के न रहने के बाद डा. दिवाकर का मां को देखने आना उसे बरगद की टंडक का एहसास देता था। बब्बा के रहने तक उसने जीवन में सिर्फ एक ही काम किया था- उसने पढ़ा था और पढ़ा था और पढ़ा था। साहित्य की आंखों से पुरुष को जाना था।

जीवन में डा. दिवाकर ही वह पुरुष थे जिनके साथ खाली मन का अवसाद बांटने की कानन ने कोशिश की थी। वह अक्सर शाम को डा. दिवाकर के क्लीनिक पर जाया करती थी क्योंकि दिवाकर के घर आने से केसर कुछ ऐसी बिखरती थी कि उसे संभालने में दो-तीन दिन लग जाते थे। इसलिए वह चाहती थी कि मां को देखने भी डा. दिवाकर तभी घर आए जब वह खुद कालेज गई हो।

बब्बा के घनिष्ठ मित्र सफ़सेना साहब के सबसे बड़े बेटे और साथ में प्रेक्टिसिंग फिजीशियन होने के नाते डा. दिवाकर का कानन के यहां आना-जाना बचपन से ही जारी था। गर्मियों की छुट्टियों में जब भी किसी पहाड़ी क्षेत्र से लौटकर आते तो बब्बा डा. दिवाकर के परिवार के लिए उपहार लाना न भूलते थे। वह शायद नवीं में थी या फिर दसवीं में जब बब्बा ने उसके लिए कश्मीरी कढ़ाई का सफेद केफ खरीदा था। ठीक वैसा ही एक अन्य केफ बब्बा ने डा. दिवाकर की पत्नी के लिए भी लिया था। वह केफ भेंट करने कानन भी बब्बा के साथ डा. दिवाकर के घर गई थी।

डा. दिवाकर बाबा को एक मुलझे हुए समझदार इंसान लगते थे जिनसे डाक्टरी के अतिरिक्त भी कुछ विषयों पर बात की जा सकती थी। उनके आने पर बब्बा कानन को प्रोत्साहित करते थे कि वह उनसे किन्हीं विषयों पर चर्चा करे। कानन ने भी पाया था कि डा. दिवाकर से चर्चा करने से दिभाग फैल-सा जाता है। बब्बा के बाद डा. दिवाकर ही कानन के फ्रेंड, फिलॉसफर और गाइड थे।

धीरे-धीरे कानन ने महसूस किया कि कभी-कभी दिवाकर की पूरी बात सुने या समझे बगैर भी उनका सिर्फ बोलना और बोलते रहना उसे अच्छा लगने लगा था। उनका अपना खास लहजा, ठहरा-सा, कुछ रुका-रुका-सा बात करने का अंदाज जिसमें- अगर आप सुनते हुए सचेत न हों- तो डूबने का खतरा रहता था। बातें करते-करते चश्मे के पीछे से मुस्कराती उनकी दृष्टि में कभी विजेता तो कभी सामने वाले को छोटा समझकर माफ कर देने का उनका भाव कानन को निरुपय कर देता था।

डा. दिवाकर के प्रति कानन के भीतर वर्षों से जमे भावों के विभिन्न रंगों में एक रंग, और जुड़ गया था- एक रोशनी-सा रंग, जो आत्मद्युति की तरह भीतर के देश में बसने लगा था। बहुत दिनों तक वह उसे शब्दों में बांधने का प्रयास करती रही। अपने लिए भी और अगर डा. दिवाकर तक पहुंचाना हो तो उनके लिए भी। पर ऐसे अक्षर-शब्द नहीं मिल पाए। हर शब्द अपने को दोहराता, एक सांचे में कैद लगा, टूटते तारों से छूटते प्रकाश जैसा जो प्रकाश कम और क्षण भर का आभास अधिक होता है। बार-बार कौंध कर नई द्युति छिटकाते शब्द उसे नहीं मिले, कहीं नहीं। फिर सोचती, शब्द मिल भी जाते तो क्या हो जाता? क्या वह उन्हें डा. दिवाकर तक पहुंचा पाती? कह पाती अपने मन की जस की तस? और अगर कह भी देती तो क्या हो जाता! क्या कहकर हम किसी बात को एक समय-काल में, एक निश्चित अवधि में बांध नहीं देते? आज कही गई बात कल इतिहास हो जाती है और न कही गई बात भीतर का सत्य बनी रहती है...चिरंतन सत्य। पर यह भी तो सत्य है कि कही गई बात यानी शब्द का उच्चारण वायुमंडल में विलीन होकर नाद बन जाता है, चिर निनादित! अलग-अलग कोणों से दोनों सत्य ही तो हैं। तो? तो क्या दोनों ही स्थितियाँ अंततः उसी एक बिंदु पर ले जाती हैं?

कानन अकेले में अपने से प्रश्न करती कि

क्या डा. दिवाकर उसके इस भाव को समझते नहीं होंगे। कोई भी कष्ट या समस्या होने पर हर बार की तरह वह उसे साथ खड़े दिखाई देते थे। उतने ही तत्पर, उतने ही करीब। क्या उन्होंने भी समझकर ... अभिव्यक्त न करने का मार्ग चुना होगा या फिर।

विचारों के इस ऊहापोह में भटकती कानन के भीतर से अंततः आवाज आती कि इतने महीन ताने-बाने से बुने इस संबंध को शब्दों में बांधकर इतिहास किया भी तो क्या! क्या तब डा. दिवाकर के जीवन का वह सत्य मर्मैला नहीं हो जाएगा जिसे किसी समय उन्होंने खुद, उनके परिवार और समाज ने चुना और अपनाया था? क्या उस मुस्कराते सच के चेहरे पर स्याह रंग की कूची कानन के हिस्से आएगी? यह दुविधा कानन पर बोझ बनने लगी थी।

पर इसी बोझ के सहारे वह उबर भी पाई थी। जैसे बरसात के मौसम में लताओं की कभी छंटाई करके तो कभी किसी मजकूत सहारे से दिशा दी जाती है जिसे हम अक्सर भूल में बांधना कहते हैं, वैसे ही कानन ने मन को बांधा- एक मुक्त बंधन से।

कानन ने अपनी पढ़ाई पूरी की। वह उसी कालेज में पढ़ाने भी लगी और यह रिश्ता भीतर की खामोशी सिंगड़ी में कहीं सुलगता रहा- राख में दबी आंच की तरह धीमे-धीमे, लगातार, निःशब्द।

मृत्यु जीवन के ठीक सामने खड़ी होती है। उसी तरह जैसे झूठ सत्य के सामने। जीवन का एक ऐसा ही सच या कहें झूठ था कानन से तेजेश्वर का संबंध। तेजेश्वर सिंह...स्पैस्टिक सोसाइटी के निदेशक तेजेश्वर सिंह जिनसे कालेज के प्रिंसिपल की सलाह पर कानन कैसर के लिए मिली थी। वह मुलाकात किसी एक बिंदु पर पहुंचकर इतनी तेजी से ढलान की ओर चल देगी, उसने सोचा भी न था। कभी-कभी किसी व्यक्ति की ओर बढ़ते हुए हम वस्तुतः किसी मनचाहे अक्स की ओर बढ़ रहे होते हैं पर करीब जाकर समझ पाते हैं कि वह व्यक्ति अक्स नहीं सिर्फ देह है।

जिंदगी के सबसे दुखद क्षण उथल-पुथल नहीं मचाते, शांत कर देते हैं। मां के संदर्भ में 'विवाह' का हथ्र कानन भूली नहीं थी, मगर बब्बा और बीमा का संबंध भी बहरहाल उसने खुद अपनी आंखों से देखा था।

जिंदगी कुछ क्षणों की नहीं है कि उसे केवल क्षणों की बीट पर जिया जाए, तेजेश्वर की तरह।

जब रिश्ते को समाज में आधार न मिले तो उस रिश्ते का दम-सा घुटने लगता है। फिर इस रिश्ते में तो सिर्फ 'आज' था, 'कल' कहीं दूर-दूर तक दिखाई नहीं देता था। तेजेश्वर ने विवाह से कभी इंकार नहीं किया था मगर वह उसके लिए कभी तैयार भी नहीं हुआ था।

तबीयत पर बोझ बनने लगती हैं कुछ बातें ...कुछ संबंध...कानन ने गर्दन को हल्का-सा झटका दिया। संबंधों को ढककर कहीं जिंदगियां जी जाती हैं! फिर संबंध...संबंध तो वहीं ठहरते हैं जहां सुरंगें होती हैं!

फिर कौंधी थी वह कहानी जेहन में, जो मां अक्सर उसे लोरी की तरह सुनाया करती थी बचपन में। बंदर और टोपी वाले की कहानी। किस तरह पहले अपने सिर की टोपी फेंककर टोपी वाला बंदरों से जीत पाया था। उसे भी तो वही कहानी रोज सुननी अच्छी लगती थी। आदत-सी हो गई थी उस कहानी की। पर यह बात बाद में समझ में आई थी कि उस कहानी के जरिए मां कह क्या रही थी। शायद कहती हो कि दूसरों से उम्मीद मत करो कुछ छोड़ने की, पहले तुम खुद छोड़ो। और उसने अपने जीवन से तेजेश्वर को अलग कर दिया था। जीवन से विस्थापित राग धराऊ कपड़ों-सा अतीत के बक्से में न जाने कब तक रहता हो! एक गहरा नीला अवसाद उसे घेर रहा था।

यह दार्शनिक मन मां का ही दिया हुआ था। और उसी मां ने कैसा अंत पाया! जीवन एक विरक्ति में परित्यक्त हो काटा था उन्होंने। फिर अपाहिज हुई और अंत में...!

मृत्यु की भी अपनी एक गंध होती है...शायद जिसे पहचानने की शक्ति मनुष्य ने खो दी हो समय के साथ-साथ। मां के अंतिम स्नान के समय जाना था कानन ने इस मृत्यु-गंध के बारे में। नौ साल से मां एक ही अवस्था में उसी चारपाई पर लेटी रही थी। उसकी आवाज भी अंततः जाती रही थी। पर पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ था। फिर क्यों मृत्यु से पहले सुबह जब कानन उसे नहला रही थी तो देखा था कि मां की बाईं हथेली पर चूहों ने कई जगह काटा है। कुतर-सा डाला है मांस को। आधी बांह नीली पड़ गई थी। बस नहलाकर बिस्तर पर रखा और...वह नहीं रही।

नौ साल बिस्तर पर थी, कभी ऐसा हादसा नहीं हुआ था! क्या उन्हें गंध आ गई थी? मृत्यु के

पृष्ठ 48 पर जारी

हमारे समाज में मुश्किल से पांच प्रतिशत स्त्रियां ही ऐसी हैं जो खुलकर बोल सकती हैं !

पद्मा सचदेव से विकास द्विवेदी की बातचीत

जम्मू-कश्मीर के राजपुरोहित राज पंडित के घर 17 अप्रैल, 1940 को जन्मी पद्मा सचदेव न सिर्फ डोगरी भाषा की महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं बल्कि हिंदी साहित्य में भी उनका योगदान विपुल है। डोगरी में उनके सात कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी में दो कविता संग्रह *सबद मिलावा* और *मेरी कविता मेरे गीत* उपलब्ध हैं। तीसरा संग्रह *अक्खर कुंड* किताबघर से शीघ्र प्रकाश्य है। उन्होंने तीन उपन्यास लिखे हैं— *अब न बनेगी देहरी*, *नौशीन* और *भटको नहीं धनंजय*। उनके संस्मरण खासे चर्चित रहे हैं। इनमें *मितवा घर*, *दीवान खाना* और *अमराई* हैं। चौथी पुस्तक अभी लिख रही हैं। इसके अलावा दो यात्रा वृत्तांत *मैं कहती हूँ* और *आँखिन देखी* और एक कहानी संग्रह *गोद भरी* भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी डोगरी कविताओं के अनुवाद हिंदी और अंग्रेजी में उपलब्ध हैं। कविताएं मूल रूप से डोगरी में लिखकर हिंदी में स्वयं ही अनुवाद करती हैं जबकि गद्य हिंदी में लिखती हैं।

पद्मा सचदेव ने 1971 में अपने डोगरी कविता संग्रह *मेरी कविता मेरे गीत* के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त किया। इसके बाद उन्हें 1987 में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार और वर्ष 2001 में पद्मश्री प्राप्त हुआ। इसके अलावा जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी और उत्तर प्रदेश हिंदी अकादमी के कई पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। अन्य पुरस्कारों में राजाराय मोहन राम कलाश्री पुरस्कार और माता कुसुम कुमारी अंतर्राष्ट्रीय सम्मान मुख्य हैं।

मुख्य रूप से रागात्मक भावबोध की रचनाकार पद्मा सचदेव की कविताओं में डुंगर प्रदेश की प्रकृति और सांस्कृतिक जन-जीवन के बिंब हैं। वहां की नदियां— उनकी लहरें— प्रकृति का संगीत उनकी कविता में केंद्रीय तत्व हैं। दूसरी ओर वह मानव मूल्यों के हास और पर्यावरण के विनाश को लेकर भी बहुत चिंतित हैं। हिंदी के महान कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने उनकी कविता को 'सच्ची कविता' माना है। उनका सपना 'आधुनिक आपाधापी के बीच सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण बनाए

रखना, लोगों में प्यार बांटते रहना और समाज को मितवा घर' बनाना है।

प्रश्न : आप डोगरी से हिंदी में आईं। यह क्यों जरूरी लगा आपको? कोई विशेष अनुभव?

उत्तर : यह सब स्वाभाविक रूप से ही हुआ। हिंदी वालों के संपर्क में आने के साथ ही हिंदी में लेखन भी बढ़ा। दिनकर जी के संपर्क में आईं। उन्होंने मेरी पहली पुस्तक *मेरी कविता मेरे गीत* की भूमिका लिखी। वह एक लेख के रूप में *धर्मयुग* में छपी थी। फिर भैया (धर्मवीर भारती) के संपर्क में आईं तो गद्य लेखिका हो गईं। गद्य में लिखा हुआ एक-एक शब्द उन्हीं की देन है। इस प्रक्रिया में और अनेक हिंदी लेखकों के संपर्क में आईं तो हिंदी में लेखन भी बढ़ा।

संस्मरण साहित्य में आपका विपुल योगदान है। आप अपने को कितना तटस्थ रख पाई हैं?

मैंने लता मंगेशकर पर पहला संस्मरण लिखा था। वर्ष 1971 में उन्हें पहली बार देखा। मुंबई में उनके घर अक्सर आना-जाना रहता था। उनसे जुड़ने की

आकांक्षा के पीछे एक मुख्य कारण यह भी था कि मैं चाहती थी कि लता जी डोगरी के गीत गाएं। उस बहाने मैं डोगरी को स्थापित करना चाहती थी। उसके तमाम जाने-माने रचनाकारों के संपर्क में आईं। उन सभी पर लिखा। मैंने जिन पर संस्मरण लिखा है, मुझे लगता है, वे सब मेरे घर के सदस्य हैं। मेरी उनसे बड़ी आत्मीयता है। वे सब मेरे अपने हैं। वह सब कहने वाले हैं और मैं सिर्फ श्रोता भर हूँ। मैं उन्हें पूरी तरह जान सकने और प्राप्त करने की जिज्ञासा से जुड़ी।

आपने अपने नौशीन उपन्यास में कश्मीर की आतंकवाद की समस्या को उठाया है। वहां के राजनीतिक और सामाजिक हालात की सही साहित्यिक अभिव्यक्ति किस हद तक हो पाई है?

हम उन लोगों में से हैं जिन्होंने शुरू से ही कश्मीर में आतंकवाद को पनपते और बढ़ते देखा है। वहां की संस्कृति और राजनीति से गहरे तक



पद्मा सचदेव

जुड़े रहे हैं। खुद भुगता हुआ ही नौशीन में व्यक्त हुआ है। कश्मीर के आतंकवाद पर जो वहां के लोगों यानी कश्मीरियों ने लिखा- उसमें सही साहित्यिक अभिव्यक्ति हो पाई। गैर कश्मीरी लेखक इस मायने में बहुत सफल नहीं रहे हैं क्योंकि उसमें हाथ जलने और हाथ सेंकने वाला अंतर है। दूर से देखकर बेहतर नहीं लिखा जा सकता। मगर इसके तहत कमलेश्वर का कितने पाकिस्तान अच्छी पुस्तक है। ऐसा इसलिए भी हो सका क्योंकि एक गैर-कश्मीरी होने के बावजूद वह निजी तौर पर वहां की स्थितियों और लोगों से जुड़े। इसलिए वह गैर-कश्मीरी के दायरे से बाहर हो गए।

अब न बनेगी देहरी में आपने स्त्री को एक नए रूप में प्रस्तुत किया है। बदले हुए आधुनिक परिवेश में स्त्री की स्थिति और नियति पर आपकी प्रतिक्रिया !

जिंदगी जीने के लिए- उसमें आस्था के लिए प्रेम सर्वाधिक ताकतवर हथियार है। वह सबसे बड़ी शक्ति है। इस उपन्यास की नायिका उसी हथियार के बूते अपनी जिंदगी जीती है। महंत का उसमें बड़ा योगदान है। महंत की जो छवि उपन्यास में आई है, वह मेरे बचपन में बनी छवि है। बचपन में पिताजी पड़ोस के एक महंत से मिलवाने ले जाते थे। उनसे मैं बड़ी प्रभावित थी।

बदले हुए आधुनिक परिवेश में स्त्री अब फंस गई है। पहली बात तो यह है कि आधुनिक समाज में भी अभी तक पुरुष मानसिकता में अपेक्षित बदलाव नहीं आया है। गांवों में स्त्री और भी मजबूर है। हमारे समाज में मुश्किल से पांच प्रतिशत स्त्रियां ही ऐसी हैं जो खुलकर बोल सकती हैं। दूसरी बात यह है कि स्त्री पुरुष की ललकार पर कमाने के चक्कर में ज्यादा पड़ गई। वह पुरुष के साथ बराबरी की होड़ में है। स्त्री और पुरुष दोनों में किसी का भी- एक के बगैर दूसरे का- गुजारा नहीं है मगर मैं मानती हूं कि स्त्री में पुरुष से ज्यादा ताकत है। वह बच्चे को जन्म देकर स्रष्टा यानी भगवान के करीब हो जाती है। पुरुष के बराबर होने की इच्छा अपना अवमूल्यन करना है। आधुनिकता और संस्कृति बोध के बीच बड़ा भारी भटकाव है। आज के युग में माएं भटक गई हैं इसलिए नई पीढ़ी का सत्यानाश हो रहा है। मुझे लगता है कि स्त्री देर-सबेर इन स्थितियों से मुक्त होगी।

आप बेहद भावप्रवण कविताओं के लिए जानी जाती हैं। अपनी कविता की रचना प्रक्रिया के बारे में बताइए। आज संवेदनाओं के विलोपन के संकट को किस रूप में देखती हैं?

छूट जाते हैं कभी मुझमें किनारे अपने
डूब जाता है कभी मुझमें समंदर मेरा।

कविता रूह की चीज है। रूह लिखे, रूह पढ़े। रूह कहे, रूह सुने। कविता को रूह वाला ही समझ सकता है। रूह में डोगरी बसी हुई है इसलिए कविता भी उसी में लिखती हूं। मैं कविता लिखने के लिए कविता नहीं लिखती हूं। वह आ जाती है। कविता महबूब की तरह है जो अकेले देखकर आती है। जब मैं कविता लिखती हूं तो एक स्त्री का पूरा जीवन होता है सामने। उसे पूरी शिद्दत से महमूस करती हूं। हम जैसे घूमते हुए समय के हिंडोले में बैठे हैं।

संवेदनाओं के विलोपन का संकट इसलिए है क्योंकि लोग मशीन हो गए हैं। जिंदगी बहुत मुश्किल हो गई है लेकिन मेरा मानना है कि संवेदनाएं कभी मरती नहीं। मुझे संवेदनाओं की वापसी पर हमेशा विश्वास रहा है और है। इसी तरह इस बात का भी कि संस्कृति व सभ्यताबोध फिर लौटकर आएगा।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया व सूचना के विस्फोट के युग में गंभीर

साहित्य का क्या भविष्य है?

बहुत ज्यादा पांडित्यपूर्ण, गंभीर और भारी-भरकम साहित्य अब बहुत अधिक लोकप्रियता अर्जित नहीं कर सकता। ऐसा साहित्य सिर्फ मुट्ठीभर लोगों के बीच ही प्रचलित रह सकता है। आज के थके-हारे मनुष्य के लिए यह बोझ बन जाता है। ऐसा साहित्य चमकृत तो कर सकता है मगर लोगों को अपने से जोड़ नहीं सकता। लेखकों को चाहिए कि वे सरल लिखें। दिनकर जी कहते थे कि सरल लिखना ज्यादा कठिन है। मैं भी यही धारणा रखती हूं।

आज बहुत-से चैनल आ गए हैं। उनके चलते लोग गंभीर साहित्य नहीं पढ़ रहे हैं। लोग लोकगीतों को भूल गए हैं। जब तक यह स्थिति जारी रहेगी तब तक गंभीर साहित्य एक तरफ पड़ा रहेगा।

माना कि तेरी दीद के काबिल नहीं हूं मैं
तू मेरा शौक देख, मेरा इंतजार देख।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि गंभीर साहित्य की कोई जगह नहीं बचेगी। ऐसे साहित्य की जगह जरूर बची रहेगी। मेरा विश्वास है कि विरोधी शक्तियां गंभीर साहित्य को कभी पराजित नहीं कर सकेंगी। यह दायित्व बुद्धिजीवी के कंधों पर है। नई रणनीति बनाने की जरूरत है। सरकार यह काम नहीं करेगी। वह कुर्सियों के चक्कर में है।

आपकी दृष्टि में पिछले कुछ समय में कौन-सी रचनाएं सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही हैं। हिंदी के युवा रचनाकारों पर आपका दृष्टिकोण।

मुझे कमलेश्वर का लेखन पसंद है। कृष्णा सोबती की समय सरगम, कुसुम असल की एक और पंचवटी, दिनेश नंदिनी डालमिया की मुझे माफ करना अच्छी लगीं। मुझे शिवानी की रचनाएं बहुत पसंद हैं। अमृतलाल नागर की भी। कवियों में मुझे अशोक वाजपेयी, कंदारनाथ सिंह और कुंवर नारायण की कविताएं अच्छी लगती हैं। युवा रचनाकारों में राजेश जोशी, मंगलेश डबरा, उदय प्रकाश, अनामिका, महेश दर्पण, बलराम और अखिलेश पसंद हैं। सूर्यभानु गुप्त की कविताएं अच्छी हैं।

आपके बाद की पीढ़ी की महिला लेखिकाओं पर आपका दृष्टिकोण।

अनामिका, कमलकुमार और कुछ अन्य हैं जिन्होंने बेहतर लिखा है। मगर इन्हें पढ़ते हुए यह महसूस भी होता है कि अभी कुछ और लिखना है।

क्या आपको लगता है कि इस समय साहित्य में आम भारतीय की अभाव स्थितियों का चित्रण अपेक्षित तरीके से नहीं हो रहा है?

नहीं। यह नहीं हो पा रहा है। लोग आम भारतीय से जुड़ेंगे नहीं तो कैसे लिख पाएंगे! गांवों से जुड़कर लिखने वाले बहुत कम हैं।

ऐसा कहा जाता है कि आप डा. धर्मवीर भारती को अपना बड़ा भाई मानती हैं। उनके साथ आपने लंबा सफर तय किया है। उनके संपर्क में कब और कैसे आईं?

बड़ा स्नेह करते थे भैया (धर्मवीर भारती)। गद्य में एक-एक शब्द उन्हीं की देन है। सबसे पहली बार मुंबई में उस्ताद विलायत खां के सितार वादन में उनसे मुलाकात हुई। वहां उनसे बातचीत हुई तो उन्होंने धर्मयुग के कार्यालय बुलाया। वहां गई तो डोगरी के बारे में बातचीत हुई। उन्होंने बहुत उत्साहित किया।

उनकी प्रेरणा से मैं 'प्रोज राइटर' हो गई।

उनके व्यक्तित्व से जुड़े अविस्मरणीय पसंजों के बारे में कुछ बताइए !

वह बहुत घरेलू किस्म के व्यक्ति थे। भैया बड़े कवि-बड़े संपादक थे, मगर घर में वह बहुत साधारण व्यक्ति थे। वसंत पंचमी को वह नया कुर्ता, पाजामा पहनकर उत्सव मनाते। हम लोग गाना गाते। ऐसे ही वह दीपावली मनाते। कई बार डांटते। यह नहीं किया- वह नहीं किया। बच्चों के साथ बच्चा हो जाते थे। हमारी शादी की दसवीं सालगिरह थी। मेरे पति सरदार सुरेंद्र सिंह (सिंह बंधु) ने कहा कि हम दोनों का दस साल का कंट्रैक्ट था। अब सब कुछ खत्म। इस बात पर भैया टोकरी में फल और सिर में लगाने वाले फूल बांधकर लाए और औपचारिकताओं के साथ फिर शादी कराई। कहा- चलो, अब दूसरी शादी हो गई।

भारती जी को बहुत सरसक प्रशासक संपादक माना जाता है। आपका मिजी अनुभव !

अगर वह सख्त न होते तो धर्मयुग इस तरह न निकलता जैसा निकला। लोग उनसे बहुत डरते थे और उतना ही प्यार भी करते थे।

उनकी कौन-सी रचनाएं आपको बेहद पिय लगती हैं? उनके साहित्य से किस तरह की प्रेरणाएं मिलती हैं?

कविता-कहानियों में 'मुनादी', 'गुलकी बनो', 'बंद गली का आखिरी मकान' और अन्य कविताएं आदि। भैया को मैं उचककर छूने पर भी नहीं छू पाती हूँ। उनका साहित्य मुझे हमेशा अच्छा लिखने की प्रेरणा देता रहता है। जब भी कुछ लिखती हूँ, हमेशा यह सोचती हूँ कि वह होते तो उन्हें अच्छा लगता या नहीं।

सामयिक संदर्भों में भारती जी का साहित्य कितना प्रासंगिक है? क्या आपको लगता है कि एक स्वास विचारधारा के आलोचकों ने उनके साथ अन्याय किया?

उनका साहित्य हमेशा ही प्रासंगिक रहेगा। वह किसी खास पंथ से बंधे नहीं थे। यह बात सही है कि कुछ आलोचकों ने उनके साथ काफी अन्याय किया मगर वे उनके साहित्य को खारिज नहीं कर पाए। हिंदी में स्वस्थ आलोचना की कमी है। किसी खास विचारधारा से बंधकर लिखी गई समीक्षा का कोई मतलब नहीं है।

आपको डोगरी का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला है। क्या आपको लगता है कि अगर आप विधुद्ध रूप से हिंदी में होतीं तो यह पुरस्कार आपको न मिलता या देर से मिलता !

अगर मैं हिंदी में कविता लिखती तो शायद यह पुरस्कार नहीं मिलता। हिंदी में उच्चस्तरीय कविताएं लिख पाती, इसमें संदेह है। कविता रूह की चीज है। रूह वाला ही उसे समझ सकता है। रूह में डोगरी बसी हुई है। दूसरी बात यह कि साहित्य अकादेमी पुरस्कार कई बार ऐसे लोगों को मिल जाता है जो इसके लिए डिजर्व ही नहीं करते। इसके लिए गुटबंदी की जाती है। यह ठीक नहीं है। कई रचनाकार ऐसे हैं जो इसके लिए डिजर्व करते थे मगर उन्हें यह पुरस्कार नहीं मिला।

डोगरी कविता आधुनिकता बोध को अभिव्यक्ति देने में कहां तक सफल रही है?

इस परिप्रेक्ष्य में डोगरी कविता काफी सफल रही है। विचार और भावबोध के स्तर पर वह आज किसी भी भाषा की कविता के साथ बेहतर खड़ी हो सकती है।

क्या आपको लगता है कि हिंदी में क्षेत्रीय पहचान वाले साहित्य की कमी है?

यह सही है और यह स्थिति बदलनी चाहिए। जो अपनी क्षेत्रीय भाषा से दूर है, वह अपनी जड़ों से दूर है और इसलिए वह असली साहित्य से दूर है। जिसने अपनी क्षेत्रीय भाषा में लोकगीत नहीं लिखे-गाए, वह अभागा है। जिन्होंने ऐसा नहीं किया उन्होंने अपनी भाषा को धोखा दिया। आज जब मैं कविताएं लिखती हूँ तो लगता है कि अपने जम्मू क्षेत्र के उसी पहाड़ी गांव में बैठी हूँ जहां बचपन गुजरा है। जहां की संस्कृति और सभ्यता में हम रचे-बसे हैं।

इस समय क्या लिख रही हैं? भविष्य में किस प्रकार का साहित्यिक योगदान करने की आकांक्षा है?

मेरी कामना है कि डोगरी संविधान में शामिल हो जाए और इसके लिए पिछले कई सालों से प्रयास चल रहा है। इस प्रयास में मैं अकेली नहीं, बल्कि हम सब साथ हैं।

इस समय एक संस्मरण की पुस्तक *बारादरी* पर काम चल रहा है। अशोक वाजपेयी पर संस्मरण पूरा कर लिया है। इस पुस्तक में कमलेश्वर, बिरजू महाराज और किशोरी अमोनकर को भी शामिल करना है। इसके अलावा भी कई योजनाएं हैं। मेरा मानना है कि योजनाएं बतानी नहीं चाहिए, वरना उनको नजर लग जाती है। गालिब ने कहा है :

तुझको भी हम बताएं कि मजनुं ने क्या किया
फुरसत गमे कशाकशे पिनहा से गर मिले ।

□

लेखकों से

- रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।
- रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।
- यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस

नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 3387876

इकतारा क्या गाए!

देख दुर्दशा नारी की, हम जोगी तक अकुलाए
अचरज है कैसे गृहस्थ को कुछ भी दीख न पाए
औरों की तो छोड़ो, ज्ञानी-ध्यानी तक भरमाए
इकतारा क्या बोले रे साधो, इकतारा क्या गाए!

जनम-जनम की दासी नारी, जब से यह संसार
नारी को कर्तव्य मिले बस, नर को सब अधिकार
कन्या पिता अधीना, युवती पति की ताबेदार
उमर ढले पर सुनती पड़ती बेटों की फटकार

वानप्रस्थ ले सकता नर, जब पास बुढ़ापा आए
नारी अपनी जिम्मेदारी पर कैसे टुकराए
इकतारा क्या बोले रे साधो, इकतारा क्या गाए !

बाबुल भी बिटिया रानी का कहां निभाते साथ
बोझ समझ बचपन में पीले कर देते हैं हाथ
तब तक ही कुछ हंसी-खुशी है, जब तक रहे सुहाग
पुंछते ही सिंदूर, घेर लेती नारी को आग

उसको तो जीते-जी दुनिया जबरन सती बनाए
कौन यहां जो अपनी ऐसी करनी पर पछताए
इकतारा क्या बोले रे साधो, इकतारा क्या गाए !

उसकी छाया तक से बचते आए संत-फकीर
धरम-करम की कलम संभाली, लिख डाली तकदीर
घर की चार-दिवारी में रख उसे निरंतर कैद
घूंघट का पट उलट न जाए, रहे सदा मुस्तैद

सन्नारी तो केवल वह जो पतिव्रत धरम निभाए
ऐसे व्रत अपनी खातिर तो नर ने कहां बनाए
इकतारा क्या बोले रे साधो, इकतारा क्या गाए !

नारी के हिस्से में आया त्याग और बलिदान
बलि दहेज की उसे चढ़ाकर बनता पुरुष महान
कभी गर्भ में मारी जाती, कभी जनम के बाद
जोगी पूछ रहा है, नारी कब होगी आजाद?

सच्चा पुरुष वही होगा जो ऐसी प्रथा मिटाए
भटक रहा है दर-दर जोगी, किस-किसको समझाए
इकतारा क्या बोले रे साधो, इकतारा क्या गाए!

साहित्य बनाम मीडिया

इस समय साहित्य के सामने सबसे बड़ी चुनौती है- दृश्य-श्रव्य माध्यम। मुद्रित शब्द की पवित्रता तिरोहित हो चुकी है। भाषा की प्रकृति अखबारी हो गई है, विचार का स्थान समाचार या प्रचार लेता जा रहा है। सत्य का अर्थ हो गया है तथ्य या आंकड़ा। सत्यकथा का अभिप्राय कोई दार्शनिक आख्यान नहीं, भ्रष्टाचरण का सनसनीखेज वर्णन हो गया है। बचा-खुचा साहित्य गुटबाजी के शिकंजे की गिरफ्त में आत्मविभोर है।

दृश्य-श्रव्य माध्यम मध्यम दर्जे की अभिव्यंजना प्रणाली नहीं, बल्कि उसका प्रभाव बड़ा व्यापक, गहन तथा दूरगामी होता है। समस्या यह है कि उसे उपभोक्तावाद का प्रवक्ता बना दिया गया है। अब साहित्यकार के सामने केवल दो ही विकल्प हैं। एक विकल्प तो यह है कि साहित्यकार दृश्य-श्रव्य माध्यम को बितराकर उसे कोसता हुआ उससे किनारा कर ले। दूसरा विकल्प यह है कि उसमें अपनी पैठ बनाकर उसे इस्तेमाल करने का बीड़ा उठाए-जैसा कि मनोहर श्याम जोशी, कमलेश्वर या भीष्म साहनी ने किया। मेरे ख्याल से साहित्य की सिमटती हुई दुनिया को एक नया आयाम और विस्तार देने का यह भी एक उपाय है। मैं भी यह उपाय आजमाता रहा हूं।

नारी वर्ष सन 2001 के उपलक्ष्य में गीत एवं नाटक प्रभाग द्वारा प्रस्तुत ध्वनि एवं प्रकाश कार्यक्रम शतरूपा के गीत तथा कुछ दृश्य लिखते समय जिस प्रक्रिया से मैं गुजरा वह अपने आप में एक अनुभव है। शतरूपा का उद्देश्य आदिम युग से लेकर आज तक के भारतीय समाज में नारी की स्थिति को दर्शाना तथा नारी-उत्थान एवं सम्मान का संदेश जन-जन तक पहुंचाना है। लेखन-क्रम में सबसे पहला प्रश्न तो मेरे मन में यही उठा कि आखिर ईव और हव्वा की तरह भारतीय परिकल्पना के अनुसार आदि नारी कौन थी? इस जिज्ञासा का समाधान अर्धनारीश्वर संबंधी पौराणिक आख्यान में प्राप्त हुआ। जाना कि इस विषय में भारतीय अवधारणा यह है कि प्रथम मानव का नाम स्वयंभू मनु था और प्रथम नारी का नाम शतरूपा था। 'शतरूपा' नाम मुझे इतना सार्थक लगा कि मैंने प्रस्तावित कार्यक्रम का नाम शतरूपा रखने का सुझाव दिया जो इस कार्यक्रम से जुड़े महानुभावों ने तुरंत स्वीकार कर लिया। शतरूपा के लिए मैंने जो गीत लिखे उनमें से दो गीत चुनकर मैं आपके सामने यह जानने के लिए रख रहा हूं कि दृश्य-श्रव्य माध्यम के लिए लिखे जाने वाले नाट्य गीत मुद्रित रूप में पढ़े जाने पर कैसे लगते हैं। यहां प्रस्तुत गीतों में से 'दिनचर्या' का उपयोग शतरूपा में अवधि-सीमा के कारण नहीं हो पाया। 'शक्तिगान' मैंने काफी पहले लिखा था। यह गीत दृश्य-श्रव्य माध्यम की अपेक्षाओं के अनुरूप लिखा गया है।

-बालस्वरूप राही

दिनचर्या

वक्त की चक्की के पाटों में
नारी पिसती आई है !
युग-युग ने ये अजब कहानी
तरह-तरह दुहराई है !

गांव-गांव का ये ही किस्सा
काम-काज औरत का हिस्सा
चिड़ियों से पहले जग जाना
फौरन कामों लग जाना
पनघट जाकर पानी भरना
घर आ चारा-सानी करना
गाय-भैंस को खिला-पिलाकर
दूध दोहना जोर लगाकर
लीपा-पोती, चौका-बर्तन
सबके लिए पकाना भोजन
बाहर धुंआ, धुंआ घर-आंगन
आंखें बन जाती हैं सावन
झड़ी लगी रहती है हर पल
छोटा पड़ जाता है आंचल
फटा-पुराना आंचल, उसमें
पीड़ा कहां समाई है !
मन में उसे संजो नारी ने
सच्ची बात छिपाई है !

नहीं एक दिन का ये रोना
पूरे जीवन ये ही होना
धान कटना, कपड़े धोना
उपले थपना, गोबर ढोना
चक्की पीस-पीस थक जाना
दही बिलोना, ईंधन लाना
फिर दिन भर खेतों में खटना
घुटनों तक कीचड़ में अटना
कभी बुआई, कभी कटाई
लू चलती हो या पुरवाई
गट्ठर सर पर रखकर लाती
फिर से चौके में जुट जाती
आवभगत, हारी-बीमारी
सब कुछ उसकी जिम्मेदारी

मेकें ने धन समझ पराया
जल्दी-जल्दी ब्याह रचाया
अनजानों से जोड़े नाते
वे उसको कितना अपनाते

उसकी कीमत जान न पाए
लोग उसे पहचान न पाए

जड़ थी जहां वहां की धरती तो
हो चुकी पराई है !
जड़ से उखड़ जहां भी पहुंची
पूरी पनप न पाई है !

शहरों का भी ये ही किस्सा
काम-काज औरत का हिस्सा
अगर नौकरी करती औरत
काम दोहरे उसकी किस्मत
घर-दफ्तर के बीच घिसटती
घर की झिंकझिंक कब है घटती
निपट घरेलू जो कहलाती
फुर्सत कभी कहां वह पाती
झाड़ू-पोचा, चौका-बर्तन
सुबह नाश्ता, दिन का भोजन
बच्चों को बहला-फुसलाकर
नहलाकर, कुछ खिला-पिलाकर
स्कूल भेजती टिफन थमाकर
और उधर पति रोब जमाकर
तरह-तरह के हुकम चलाते
काम बीसियों हैं करवाते
सास-ससुर की देखभाल फिर
उसकी जिम्मेदारी आखिर
बच्चे होमवर्क ले आते
आकर मम्मी से करवाते
रात वही खाने का चक्कर
चूर-चूर हो जाती थककर
सारे दिन पिसती रहती है
मगर पूछिए तो कहती है
मैं हूँ सिर्फ घरेलू नारी
निरी निठल्ली मैं बेचारी

नीरस बोझिल दिनचर्या ही
उसने रोज निभाई है !
फिर भी पुरुषों की दुनिया ने
उसकी हंसी उड़ाई है !
वक्त की चक्की के पाटों में
नारी पिसती आई है !
युग-युग ने ये अजब कहानी
तरह-तरह दुहराई है !

शक्तिगान

पहचान लो अपनी शक्ति अगर,
घरबार बदल सकती हो तुम !
घरबार तो क्या, यदि चाहो तो
संसार बदल सकती हो तुम !

लहरों में शारत तुमसे है
किरणों में हारत तुमसे है
छाया की तरह शीतल हो तुम
गंगा की तरह निर्मल हो तुम
कलियों में लजीलापन तुम हो
फूलों में सजीलापन तुम हो
गीतों में सुरीलापन तुम हो
नृत्यों में लचीलापन तुम हो

कर लो निश्चय तो जीवन की
झंकार बदल सकती हो तुम !
घरबार तो क्या, यदि चाहो तो
संसार बदल सकती हो तुम !

सुकुमार तो हो, निर्बल न मगर
तुम ठान लो अपने दिल में अगर
छू सकती हो हर ऊंचाई
पा सकती हो हर गहराई
बस दूब नहीं, चट्टान भी हो
ललकार भरा जयगान भी हो
बिजली हो, इंद्रधनुष भी हो
प्रेरणा असीम पुरुष की हो
जब भी चाहो, कर्तव्य और
अधिकार बदल सकती हो तुम !
घरबार तो क्या, यदि चाहो तो
संसार बदल सकती हो तुम !

जितने अवतार महान हुए
पैगंबर, गुरु, भगवान हुए
या प्रभु के बेटे कहलाए
सब कोख तुम्हारी के जाए
मां, बहन और बेटो बनकर
हैं स्वर्ग उतारा धरती पर
भूखी-प्यासी रह सकती हो
तुम हर मुश्किल सह सकती हो
सभ्यता और संस्कृतियों के
आधार बदल सकती हो तुम !
घरबार तो क्या, यदि चाहो तो
संसार बदल सकती हो तुम !

रचना नरक की

अब कितने ट्यूशन
और पढ़ा लेंगे पिताजी
अभी तो मुझसे छोटी
तीन बहनें और हैं
जो सीलन लगी
भुरभुरी दीवार की तरह
पिताजी के सिर पर खड़ी हैं
न जाने कब ढह जाएं
पिताजी! एक पुत्र की लालसा में
आपने
एक नरक की रचना कर ली
मां ! तुम्हें भी
औरत जात पर तरस नहीं आया !

एक यात्रा विपरीत

छोटा-सा पौधा होता
तो उखाड़कर
आसानी से रोप देता
इधर या उधर
मां तो पूरा वृक्ष थी
शहर आई तो अपनी जड़ें
वहीं गांव में छोड़ आई
यहां कंकरीट भवनों के
निर्मोही पत्थर-घरों में रहने लगी
तो मुरझा गई
तेजी से बुढ़ा गई
यहां भला
फुर्सत किसके पास थी
जो मां से बतियाता
दुख-सुख सांझा करता
गांव में
बुद्धो ताई थी, दीनू काका था, शैला भाभी थी
यहां शहर में बातचीत का माध्यम
अखबार था, क्लब था, टी.वी. था
इसीलिए मां चुप हो गई,
गुम हो गई ... सिधार गई!

शेष रिश्ते

वह बैठी थी-
अपने उलझे बालों में कुछ ढूंढती
रूखा चेहरा/ पपड़ियाए होठ
हड्डियों की गठरी/ मैले-कुचैले कपड़ों में लिपटी
टांगों तले दबा रखी थी उसने
फटे चिथड़े कपड़ों की एक पोटली
आस-पास छितराए पड़े थे-
पच्चीस-पचास के चंद सिक्के
कुछ सूखी बासी रोटियां
जिन पर भिनभिना रही थीं अनगिनत मक्खियां
एक आवारा कुत्ता, मंडरा रहा था
बहुत देर से उसके चारों ओर
वह बैठी थी
बैठी ही रही कमोबेश वैसे ही
कभी-
शहर/कस्बा/ गांव, हाट/ मेला/ बाजार
सड़क/ गली/ पगडंडी, मैदान/ नदी/ पहाड़
सुबह गई/ दोपहर बीती/ शाम आई/ रात गुजरी
दिन बीते/ सप्ताह सरके/ महीने गुम हुए/
वर्ष झड़ गए
वह, बैठी रही... बैठी रही...
और, बैठे-बैठे ही मर गई, एक दिन अचानक!
लावारिस लाश-
मक्खियां, मरी-सड़ी देह पर भिनभिनाने लगीं!
कुत्ते ने सूखी-बासी रोटियां खा लीं!
पच्चीस-पचास के सिक्के-
चुरा ले गया कोई
और बिखेर गया-
पोटली में बंद सपने-
रंग उड़ी राखी
सिंदूर की खाली डिब्बी
टूटा हुआ झुनझुना
और,
फटी-गली एक तस्वीर
जिस पर, रिश्तों के धुंधले धब्बे
अभी भी रह गए थे शेष !

शहर में चिड़िया

चिड़िया
गाती थी पेड़ पर
चहक-चहककर
पेड़ काट दिए गए !

चिड़िया
उड़ती थी हवा में
लहक-लहककर
हवा जहरीली कर दी गई !

चिड़िया
चुगती थी दाना आंगन में
फुदक-फुदककर
आंगन सकरे कर दिए गए !

चिड़िया
नहाती थी तलैया में
छपक-छपककर
तलैया पाट दी गई !

उदास चिड़िया
कंकरीट के जंगल में
बिजली के खंभे पर बैठी
दिख जाती है, अक्सर-
सुबकती हुई-
पेड़/हवा/ आंगन/ तलैया के लिए !

मेरा नहीं

एक आग
जो निरंतर जलती है मेरे भीतर
जो चाहती है, कि धधक उठे भले ही
यह जिस्म
पर वह मुझे चीरकर बाहर निकल आए
मैं जानती हूँ,
वह सिर्फ मेरी नहीं है !
मैं जानती हूँ
मेरे सपने सिर्फ मेरे नहीं
कुछ मेरे जिस्म और मेरे खून की तरह
मुझे वसीयत में मिले थे

कई लोग थे
जिन्होंने इन सपनों के नाम
कर दी थी अपनी पूरी जिंदगी
पर कुछ मजबूरियाँ थीं, कुछ जिम्मेवारियाँ
जिंदगी छोटी; बहुत छोटी थी
सपने सपने थे- बहुत बड़े, बहुत ऊँचे; अपहृंच!
मेरे सपने, अब उन सपनों के बरक्स हैं
मेरी कोशिशों, उन कोशिशों की अगली कड़ी
मैं नहीं जानती
कि कब वे देखने लगे, मेरी आँखों से
कब और कैसे, मेरी महत्वाकांक्षाओं ने
सोचना शुरू कर दिया
उनकी बाबत !

मेरे सपने, मेरी जिंदगी; मेरे अंदर जलती आग
सिर्फ मेरी नहीं है
इसमें कुछ अपूरित स्वप्न सम्मिलित है
कुछ आस्थाएँ, जो मुझको लेकर बुनी गई थीं
कुछ व्यक्तित्व, जो मुझको रचने में
खुद को होम कर बैठे !

मैं जानती हूँ कि मेरी पराजय, मेरा टूटना
कुछ भी सिर्फ मेरा नहीं होगा
मैं जानती हूँ यह सब कुछ
इसलिए मुझे खुद को टूटने से बचाना है
देना है,
कुछ सपनों का देय !

गीली लकड़ियां जलतीं नहीं

गीली लकड़ियां जलतीं नहीं
ज्यादा कोशिश करो तो धुंआती भर हैं
और उनको जला पाने की आस में
सूख चलते हैं
पनियाती-भीगती-सी हैं आँखें
दम फूलने लगते हैं
और जली-अधजली लकड़ियाँ,
किसी काम की नहीं होतीं

टूटती है अकेली लकड़ी
गट्ठर नहीं टूटता
कहता है पंचतंत्र भी

लकड़ियाँ न जलना चाहती हैं
न गट्ठरों में बदलना
अब सूरज भी क्या करे?
कहां से लाए इतनी उष्मा
कि सोख सके उनकी सारी नमी
दे दे उन्हें अपनी सारी आग?
बेचारी रस्सी का भी क्या दोष,
कैसे बांधे कोई गाँठ?

कौन बताए उन्हें
कि क्षण-भर को धधाकर जलना,
जिंदगी भर धुंआते रहने से बेहतर है,
कौन समझाए उन्हें
कि गट्ठर यदि धधके तो
जला डालता है
सीमेंट-ईंटों की भी मोटी-से-मोटी भीत
भयानक-से-भयानक वन
और खूंखार सिंहों को भी !

एक हत्यारे का हलफिया बयान

सुधांत सुषिय

मेरी बहन
पहले कविताएं लिखती थी
कहानियां भी
पेंटिंग्स भी बनाती थी
बहुत सुंदर
बेहद खुश रहती थी वह
उन दिनों

फिर अचानक
उसने बंद कर दीं लिखनी
कविताएं, कहानियाँ
बंद कर दीं उसने बनानी
खूबसूरत पेंटिंग्स
और भीतर से
बुझ गई वह !

मी लॉर्ड,
मैं ही इसका जिम्मेदार हूँ
मैंने कभी प्रशंसा नहीं की
उसकी कविताओं, कहानियों की
कभी नहीं सराहा
उसकी पेंटिंग्स को
मैं चाहता था कि
वह अपना सारा समय
बर्तन-चौका
झाड़ू-बुहारू और
स्वेटर बुनने में लगाए

मी लॉर्ड,
मैं हत्यारा हूँ
मैंने अपनी बहन की प्रतिभा की
हत्या की है
उसकी कला का दम घोंटा है
मुझे कठोर से कठोर सजा दी जाए
मी लॉर्ड !

नारी चेतना और महिला उपन्यासकार

इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर हिंदी की महिला उपन्यासकारों के क्रांतिकारी आगमन से हिंदी उपन्यास में नवीन मोड़-सा आ गया है। इन लेखिकाओं ने समय के बदलते मूल्यों के साथ नारी के बदलते स्वरूप का चित्रण किया है। नारी-शोषण, अलग-अलग चेहरों में सही, किंतु हर देश में है। भारतीय नारी रूढ़ि एवं परंपराओं के जाल से अपने को मुक्त नहीं कर पाई है। परंपराओं और रूढ़ियों से वे अपना दामन छुड़ाना चाहती हैं। नारी चेतना के संदर्भ में महिला रचनाकारों के उपन्यासों की चर्चा कर रही हैं हेमा देवरानी

उपन्यास मानव-जीवन का गद्य रूप महाकाव्य है। नारी और समाज का अन्त्योन्त्योश्रित संबंध है। नारी समाज की केंद्र बिंदु है, अतः मानव समाज को चित्रित करने वाले उपन्यासों में नारी जीवन का चित्रण होना स्वाभाविक है। इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर हिंदी की महिला उपन्यासकारों के क्रांतिकारी आगमन से हिंदी उपन्यास में नवीन मोड़-सा आ गया है। इन लेखिकाओं ने समय के बदलते मूल्यों के साथ नारी के बदलते स्वरूप का चित्रण किया है। नारी-शोषण, अलग-अलग चेहरों में सही, किंतु हर देश में है। भारतीय नारी रूढ़ि एवं परंपराओं के जाल से अपने को मुक्त नहीं कर पाई है। परंपराओं और रूढ़ियों से वे अपना दामन छुड़ाना चाहती हैं। आज भारतीय स्त्री के लिए संविधान के नियम-कानून परकीय हैं। इसलिए व्यवस्था में दखल रखने में वह पूर्ण सक्षम नहीं है। परिणामस्वरूप नारी के शोषण का पैमाना बढ़ता जा रहा है। आज नारी की प्रताड़ना इससे सिद्ध होती है कि लगभग दस हजार तलाक की अर्जियां अकेले दिल्ली की अदालतों में प्रतिवर्ष दाखिल की जाती हैं। इसी प्रकार के संकेत नारी स्वतंत्रता के लिए गृहार करते दिखाई पड़ते हैं। यह है भारतीय नारी की नई तस्वीर जिसमें तरंगों, विश्वासों और कल्पनाओं के बेशुमार चटख रंग मौजूद हैं।

इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर हिंदी की महिला उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे शोषण एवं अत्याचार के खिलाफ क्रांतिकारी बिगुल बजा दिया है। सभी लेखिकाओं के केंद्र बिंदु में नारी है। कैसी स्वतंत्रता चाहती है नारी आदि का उल्लेख किया है।

उषादेवी मित्रा कृत *नष्टनीड* की सुनंदा की समस्या परित्यक्ता की समस्या है। देश विभाजन के समय वह आतताइयों के हाथों बलात्कार करके सताई जाती है। वह अपने आप को पतिता समझती है, परिवार एवं पति के साथ उसके संयुक्त होने की समस्या प्रमुख है। *पिया* उपन्यास में विधवाओं के दुख के सबसे बड़े कारण हैं— उनकी आर्थिक परतंत्रता एवं बहुत प्रकार के बंधन। *पिया* कृति की नीलिमा कहती है— मेरे विचार से 'सेल्फ रिस्पेक्ट' नारी मात्र को रहना चाहिए, उसके बिना जो जीवन है वह तो पशु का जीवन है। *वचन का मोल* की कजरी प्रेम के लिए सर्वस्व त्यागकर आजन्म सेवावृत्ति अपनाती है। रजनी पन्किकर के उपन्यास *मोम के मोती* की माया आर्थिक विषमताओं के कारण नौकरी करती है। अदम्य जिजीविषा के कारण ही माया जीवन की विषम परिस्थितियों से संघर्ष

करते हुए अंततः एक सफल वैवाहिक जीवन जीती है। *पानी की दीवार* की नायिका मीना, प्रेमी और मंगेतर के बीच झूलती हुई अंततः संस्कारवश मंगेतर को अपना लेती है। *काली लड़की* उपन्यास में जन्म से ही बहुत काली लड़की माता-पिता की सहानुभूति एवं प्यार से वंचित रहती है और उसके स्वाभाविक गुणों को भी अनदेखा कर दिया जाता है, परंतु शैक्षिक रूप से योग्य बनकर अपनी कुंठाएं दूर कर वह आत्मविश्वासी बन जाती है और अपने परिवेश के साथ नए संबंध स्थापित करती है।

इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर नारी के शोषण से रू-ब-रू कराने वाली प्रमुख महिला उपन्यासकारों में चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, राजी सेठ, सूर्यबाला, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, ऋता शुक्ल, कमल कुमार, नमिता सिंह, पद्मा सचदेव, मंजुल भगत, सुनीता जैन, शिवानी एवं शशिप्रभा शास्त्री के नाम महत्वपूर्ण हैं।

हिंदी उपन्यासों के फलक पर पहली बार इक्कीसवीं सदी की ओर तेजी से बढ़ रहे हमारे भारतीय समाज की मानसिकता को खोखला करता हुआ विज्ञापन जगत का लुभावना संसार, पत्रिकाओं, अखबारों, फिल्मों, दूरदर्शन के माध्यम से समाज को शनैः-शनैः खोखला कर रहा है। चित्रा मुद्गल का एक *जमौन* अपनी पूरी जागरूकता और संवेदनशीलता के साथ विज्ञापन जगत में व्याप्त उस दलदल को ही मुखौटा-मुक्त नहीं करता, अपितु स्त्री की समस्या से जुड़े उन तमाम प्रश्नों को भी पाठकों की अदालत में उघाड़कर रेखांकित करता है जो आधुनिकता, स्वतंत्रता, समता के नाम पर संचार माध्यमों के जरिए नारी को सौंपा जा रहा है।

और कैसी है आज की संघर्षशील नारी! पुरुष ने स्त्री के जिस एक चीज को मारो, कुचला या पालतू बनाया है, वह है उसकी स्वतंत्रता। अपनी अखंडता और संपूर्णता में नारी दुर्जेय और अजेय है। पुरुष ने हर संभव यह कोशिश की है कि उसे परतंत्र और निष्क्रिय बनाया जा सके। इसीलिए सिमोन बोउवा कहती हैं— 'औरत पैदा नहीं होती, बनाई जाती है'।

चित्रा मुद्गल ने जितने भी नारी चरित्र निर्मित किए हैं उनमें नारी की संघर्ष की कहानी है। नारी की छटपटाहट इनकी रचनाओं में देखने को मिलती है। आधुनिक दृष्टि अपनाने पर नारी को एक भारी कीमत अदा करनी पड़ी है।

क्योंकि परिवार और समाज से पूर्ण विद्रोह करके न तो उससे वह मुक्ति ही पा सकती है अपितु संघर्षों को ही झेलना पड़ता है। चित्रा मुद्गल के इस उपन्यास में नायिका अंकिता सोचती है- 'औरत की स्वतंत्रता उसकी सबसे बड़ी दुश्मन है, दुश्चरित्रता का प्रमाण है।' हमारा समाज स्त्रियों को परंपराओं की रुढ़ियों से मुक्त नहीं कर सका है। अंकिता कहती है- 'घर से बाहर हुई स्त्री को कुछ भी महसूस करने का अधिकार नहीं होता, उस पर हर व्यक्ति डेला तान सकता है।' इसलिए मन मारकर उसे बार-बार अपने बाहरी परिवेश और भीतरी कामनाओं से समझौता करना पड़ा- इसी समाज में पुरुष सर्वदा अपने मन से जीता आया है। आज भी जी रहा है, पुरुष अपने मन को जी सकता है, स्त्री नहीं। अंकिता अपने पति से अलग रहने लगती है क्योंकि सदैव सुधांशु उसे निरंतर भीतर से तोड़ता रहा, चोट पहुंचाता रहा है।

वह आधुनिक चेतना संपन्न नारी है। नीता से कहती है- 'हरगिज अलग न होती अगर मुझे कोल्हू का बैल समझकर आंखों पर पट्टी बांधे रहने पर मजबूर न किया जाता...मेरे लिए घर की व्यवस्था का अर्थ है, अब भी है...विश्वास करो, अपनी सामर्थ्य और सहिष्णुता की अंतिम सीमा तक मैं घर बचाने के लिए हाथ-पांव मारती रही...कारण न आर्थिक तंगी, न संदेह, जीने नहीं दे रही थी तो सुधांशु की निरंकुश प्रवृत्ति- उसने सदैव अपने को थोपने की कोशिश की, उसकी निरंकुशता घर के अर्थ को भ्रष्ट करने लगी थी।

अंकिता अपने आप को किसी भी हालत में नियति के सहारे छोड़ने को तैयार नहीं है। कर्मठता के भरोसे अपनी किस्मत तक को बदल देने तक का विश्वास उसमें है। जीवन में आई चुनौतियों से वह घबराती नहीं है बल्कि उनसे जूझकर उन पर विजय पाने का अदम्य साहस उसमें है। तभी तो अंत में अपने पति सुधांशु से कहती है- 'सुधांशु जी, औरत बोनसाई का पौधा नहीं है- जब जी चाहा उसकी जड़ें काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया...वह बौना बनाए रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी तो कर सकती हैं।' नारी मुक्ति की दुहाई देने वाले इस पुरुष प्रधान समाज में कितनी सच्चाई है और कितना ढकोसला है?

शशिप्रभा शास्त्री के उपन्यास *सीढ़ियां* की मनीषा एक पढ़ी-लिखी नारी है, डाक्टर बनकर अपना जीवन सफल करती है। वह संस्कारों के दंढ में झूलती रहती है और अंततः संस्कार ही उसके व्यक्तित्व पर हावी रहते हैं। शशिप्रभा शास्त्री के उपन्यास *उग्र एक गलियारे की* की सुनंदा, नारी जीवन को सरल नहीं मानती है, कहती है- 'फिलहाल बस इतना समझ लो कि नारी की जिंदगी समतल जमीन नहीं है, उसके बीच मरुस्थल- पहाड़-खाइयां- बहुत कुछ होता है।' स्वयं से असंतुष्ट रहने के कारण सारी दुनिया से असंतुष्ट रहती है। उसके लिए दुनिया एक नए परिप्रेक्ष्य में पेश आती है।

नासिरा शर्मा के चर्चित उपन्यास *ठीकरे की मंगनी* की नायिका महरूख के लिए मर्द न जिंदगी की धुरी है, न खिड़की। उसकी अपनी अस्मिता है जिस पर वह आंच नहीं आने देने के लिए जीवन भर संघर्ष करती है। अपनी अम्मी से महरूख कहती है- 'मैंने कुछ खोकर पाया है अम्मी, आप इसे न जान सकें तो वह अलग बात है, मगर मैंने सचमुच हादसों से घिरकर, तजुबों की सुरंगों से निकलकर कुछ पाया है जो बहुत कीमती, बहुत पुरमायनी है जो आप नहीं मगर आने वाली नस्लों की औरतें समझेंगी कि उसका सफर कब से शुरू हुआ था और वह औरत भावनात्मक धरातल पर हमसे ज्यादा मजबूत होगी, हर चोट को, हर चिटकन को गहराई से समझकर उसे रचनात्मक मोड़ देना हमसे कहीं ज्यादा जरूरी समझेंगी।'

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उससे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों की मांग के कारण आधुनिक नारी का व्यक्तित्व खंडित होने लगा है। दोहरे स्तर पर जीवन जीने के लिए विवश नारी की नैसर्गिक सरलता और सहजता लुप्त होने लगी है। एक मानसिक तनाव के मकड़-जाल से अपने को मुक्त नहीं कर पा रही है। आधुनिक कामकाजी नारी जीवन भर जिन व्यथाओं को झेलती रहती है। इसका वर्णन नासिरा शर्मा ने अपने उपन्यास *शाल्मली* की नायिका शाल्मली के द्वारा किया है। शाल्मली अपने जीवन को अनेक आयामों में जीने लगती है। अपने पति नरेश के व्यंग्य-बाणों से शाल्मली के भीतर बैठी औरत हर प्रहार पर और बागी होती चली गई, जबकि असली शाल्मली शालीनता का कवच पहने उसे अपने अंदर ही गहरे कोंच-कोंचकर दबाती रहती थी, मगर हर बार हुंकार भरकर तनतनाती हुई सीना तानकर खड़ी हो जाती थी। शाल्मली की बढ़ती सफलता पुरुष मन में ग्रंथि की भावना उत्पन्न करती है। नरेश को लगता है, 'शाल्मली का बढ़ता कद उसके अपने व्यक्तित्व से ऊंचा उठता जा रहा है। उस पर छाता जा रहा है। यदि उसने शाल्मली की लगाम थामकर न रखी तो यह छोड़ी उसके अस्तबल में नहीं रह पाएगी।' नासिरा शर्मा शाल्मली के शब्दों में नारी-मुक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने का भी प्रयास करती हुई नजर आती है, जब शाल्मली अपनी मित्र सरोज से कहती है- 'मेरी नजर में सही नारी-मुक्ति और स्वतंत्रता, समाज की सोच और स्त्री की स्थिति को बदलने में है। बाहर निकलो या घर में रहो, हर स्थान पर पुरुष तुमसे टकराएगा।' तलाक लेना समस्या का समाधान नहीं है। स्त्री-पुरुषों के संबंधों की सामाजिक परिकल्पना को ही बदलना है।

राजी सेठ का *तत्सम* अंतरंग के संसार में चल रही उथल-पुथल को पकड़ने वाला उपन्यास है। वसुधा, स्त्री कृति के केंद्र में है। विधवा होते ही समाज, परिवार का दृष्टिकोण बदल जाता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में विधवा-विवाह के प्रति अनुकूल परिस्थितियां विकसित हुई हैं। शहरी जीवन की जटिलता, आर्थिक-सामाजिक विषमता, बेकारी इसके मूल में हैं। अपनी पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह के लिए वह तैयार नहीं होती है और कहती है- 'यह जिंदगी है या काठ का कोई शहतीर, जब जहां से चाहा काट दिया गया। एक टुकड़ा चिता के साथ धधकने के लिए छोड़ दिया गया, दूसरा नई इमारत की पहली चौखट में जड़ देने के लिए रख लिया गया।' विवेक के साथ वसुधा का रिश्ता एक जूझता हुआ रिश्ता था।

ममता कालिया ने बेघर उपन्यास में सेक्स के स्वरूप को नए कोण से आंका है और इसे नया आयाम दिया है। 'खून नहीं आया, चिल्लाई नहीं'- पति की पत्नी के प्रति सेक्स संबंधी इस पुरानी अवधारणा पर लेखिका ने चोट करनी चाही है। *एक पत्नी के नोट्स* में ममता कालिया ने कहा है कि बाहरी दुनिया के दबाव और शाश्वत दायित्व आज नारी को जटिल आत्मसंघर्ष का पाठ पढ़ा रहे हैं।

मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यास *चित्तकोबरा* में कुंदा के परिहार पर बल दिया है। सेक्स जनित कुंदा के परिमार्जन में ही लेखिका की दृष्टि केंद्रित है। विवाह संस्था आज कितनी अर्थहीन होती जा रही है, इसकी मिसाल रिचर्ड और मनु के वैवाहिक संबंधों द्वारा देखी जा सकती है। मनु और रिचर्ड के माध्यम से प्रेम की सार्वकालिक समस्या को नई मानसिकता के तहत रूपायित कर उन आयामों को छुआ है जो आज के संदर्भ में अपना मूल्य रखते हैं। मृदुला गर्ग के ही उपन्यास *उसके हिस्से की धूप* की उच्चवर्गीय नायिका मनीषा स्वतंत्र और आधुनिक विचारों वाली है। अन्यत्र किसी पुरुष के प्रति भागती, रोमांचित मनीषा किसी के साथ भी अपने जीवन को संतुष्ट नहीं कर पाती। संबंधों के सहज होते ही ऊब का

अनुभव करने लगती है और फिर से रोमांच की तलाश में निकल पड़ती है। जीवन भर भटकती रहती है, मानो भटकना ही मनीषा के जीवन की नियति हो। मृदुला गर्ग के कठ गुलाब में मरियाना के शब्द हैं- 'औरत होना विडंबना को जन्म देता है, नहीं औरत होना एक विडंबना है, नहीं-नहीं औरत खुद एक विडंबना है। जहां औरत होगी वहां विडंबना जन्म लेगी ही।' अंततः मृदुला जी ने उद्घाटित किया है कि पुरुष भोगे और स्त्री भुगते- यह आज की औरत को मान्य नहीं है।

कृष्णा सोबती के उपन्यास मित्रों मरजाती की नायिका मित्रों एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उभरकर आती है। 'मित्रों' में वासना की सरिता अविरोध बहती रहती है- 'मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास कि मछली-सी तड़पती हूँ।' वह उन्मुक्त स्वभाव की आधुनिक ग्रामीणा है- मित्रों ही हिंदी की अकेली ऐसी नारी है जो सदियों से नारी पर लादे गए संस्कारों-संबंधों, सुंदर-सुंदर उपमाओं को ललकारती, मुंह चिढ़ाती और उन्हें झुठलाती हुई अपनी मूलभूत जरूरत और जवान के साथ सामने आ खड़ी हुई हो- छिन्नमस्ता की काली की तरह और मानो हम उसका तेज बर्दाश्त नहीं कर पाते। यह एक सहज प्रक्रिया द्वारा उसे मानवीय मुक्ति के अहसास तक पहुंचने की जुर्रत है, जिसका अधिकार हर आदमी और औरत को अपनी हस्ती में बनाए रखना होता है, सुरक्षित रखना होता है। सोबती की ही 'डार से बिछुड़ी' की पाशो अल्हड़ किशोरी, जिंदगी भर भटकती रही है। एक देह थी- निःसंग और एक मन- डाली सुनसान। कृष्णा सोबती की यह चर्चित कृति वस्तुतः परंपरा और रूढ़िग्रस्त समाज में जकड़ी एक नारी के फिसलकर भटक जाने की कहानी है। एक ऐसे समाज में नारी स्वभाव की तमाम कोमलताओं का शोषण होता है, उसकी स्वतंत्रता भी कैसी दारुण है? पाशो की भावनाओं के नष्ट हो जाने पर हृदय में घुमड़ते निःशब्द हाहाकार का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। उसके पास भटकने के बाद न हास है, न रुदन। न किसी से कोई शिकायत, न मांग।

मंजुल भगत के उपन्यास अनारो की नायिका अनारो निम्नवर्गीय नारी है जो महत्वाकांक्षिणी है। समय और परिस्थितियों के अनुसार वह अपने को झट बदल लेती है। आधुनिक और परंपरा के बीच जूझती अनारो, अपने वर्ग की समस्त विद्रूपताओं एवं महत्वाकांक्षाओं के साथ जीवन के तीखे यथार्थ को रेखांकित करती है।

मनू भंडारी के उपन्यास आपका बंटी की नायिका 'शकुन' है। आधुनिक विचारधारा के बावजूद तलाक, शकुन को वांछनीय नहीं है। वह एक ऐसी नारी है जो जीवन भर पारंपरिक संस्कारों और बौद्धिकता के बीच झूलती रहती है। तलाक के बाद वह टूट जाती है।

उषा प्रियवंदा के उपन्यास रुकोगी नहीं राधिका की नायिका राधिका है। अपने अस्तित्व और स्वतंत्रता की खोज में वह न जाने कहां-कहां भटकती है। हर पुरुष में अपने पिता की छवि को स्थापित करता चाहती है। तनाव से मुक्ति पाने के लिए वह विदेश में एक उन्मुक्त, स्वच्छंद जीवन जीती है। पचपन खंभे लाल दीवारों में उषा प्रियवंदा की नायिका 'सुषमा' कामकाजी आधुनिका है। चेतन स्तर पर आधुनिक दिखने वाली सुषमा भीतर-ही-भीतर अनेक सामाजिक तथा पारिवारिक मर्यादाओं से बंधी हुई है। स्वतंत्रता की चाह तथा सामाजिक-पारिवारिक संस्कारों और दायित्वबोध की टकराव के कारण एक स्त्री को जिस मानसिक यंत्रणा से गुजरना पड़ सकता है- यह बताती है सुषमा की कथा।

बीसवीं शती के अंतिम दशक के उपन्यासों, विशेष रूप से बेतवा बहती

रही, इदन्मम और चाक में महिलाओं का संघर्ष, जुझारू वृत्ति से परिस्थितियों के साथ टकराना, अंतर्मुख हो सोचने के लिए बाध्य कर देता है। बेतवा बहती रही में मैत्रेयी पुष्पा ने उर्वशी के दुख, उसकी पीड़ा- जो किसी भी ग्रामीण कन्या की व्याधा हो सकती है- के यतनामय नारकीय जीवन का चित्र उद्घाटित किया है। हर तरफ से उसे सुरक्षित रखने वाला कवच टूट गया। उसका धर्मपिता उठ गया, पति की मृत्यु के बाद अजित ने जान-बूझकर अत्यधिक उम्र वाले मीरा के पति से उर्वशी का विवाह किया। इदन्मम तीन पीढ़ियों- बऊ, प्रेम और मंदा की बेहद सहज और संवेदनशील कहानी है। जब-जब जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन होता है, कुछ मूल्य और विश्वास टूटते हैं। चाक घूमता है ब्रज प्रदेश के किसानों के बीच। यह स्त्री की स्वायत्तता स्थापित करने का महत्वपूर्ण प्रयास है। नैतिकता यहां बहस को खुला छोड़कर स्त्री के पक्ष को सामने आने का पूरा मौका दे रही है।

महिला उपन्यासकारों में से अधिकांश ने स्त्री के शोषण को केंद्र में रखकर अपनी-अपनी कृति द्वारा इस शोषण समस्या से उबरने के उपाय भी बताए हैं। इस दिशा में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। इनके उपन्यास समय के सच्चे दस्तावेज हैं। इन्होंने जीवन के कटु यथार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कहीं-कहीं तो नारी, जीवन के नाना क्षेत्रों में संघर्ष करती हुई भीतरी और बाहरी दबावों और तनावों को सहती हुई, टूटने के कगार पर पहुंच जाती है। किंतु उसकी जिजीविषा, उसे टूटने से बचा लेती है और संघर्षरत कर देती है। नारी की अस्मिता को पहचानने की वकालत भी की है। इनमें नारी के मानवीय संवेदना के विविध रूपों का दर्शन होता रहता है। सिमोन बोउवा ने नारी-मुक्ति चेतना एवं स्त्री संघर्ष के विषय में अपने मत को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि स्त्री स्वाधीनता का जो अर्थ हुआ है कि स्त्री पुरुष से जिस पारंपरिक संबंध को निभा रही है, उससे मुक्त हो। स्त्री और पुरुष के बीच घटने वाले संबंधों को नकारा नहीं जा सकता है। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होगा और पुरुष की होकर भी जीएगी क्योंकि स्त्री और पुरुष के बीच कुछ मौलिक अंतर तो रहेंगे ही। उसकी संवेदनशीलता की दुनिया अलग है। यह तो पुरुष को स्थापित करना है कि दी हुई दुनिया में स्वाधीनता का आधिपत्य रहे। सर्वोच्च विजय के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि स्त्री और पुरुष अपने प्राकृतिक विभाजन को बनाए रखते हुए भी आपसी सौहार्द स्थापित कर सकें।

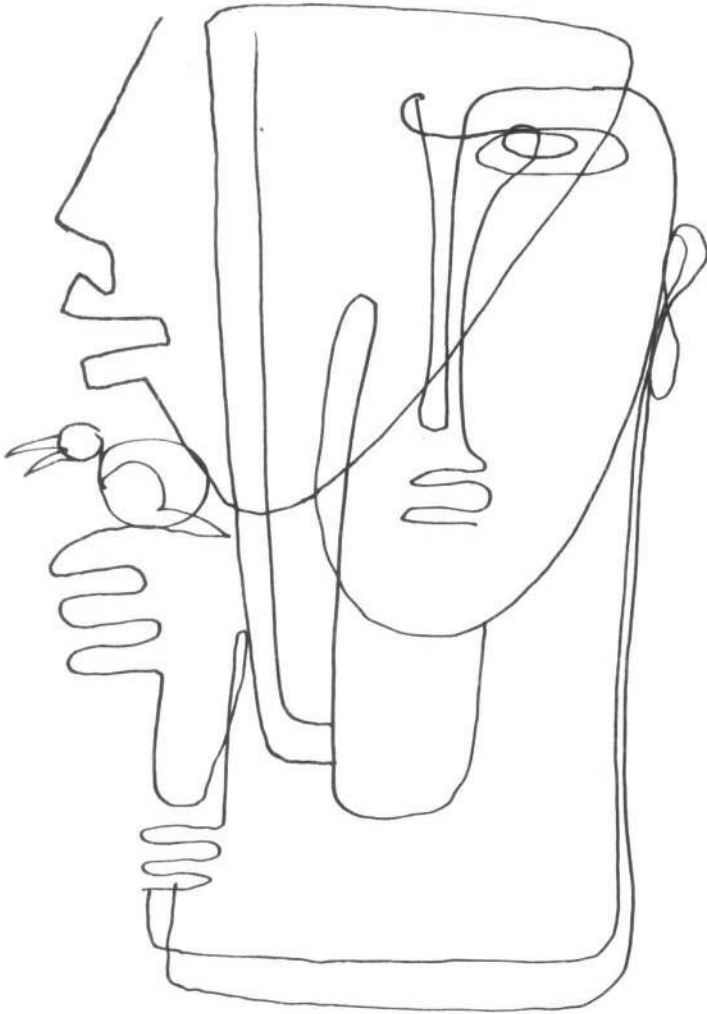
साठ के दशक की महिला उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि स्त्री को अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी। नारी को धर्म, समाज, रूढ़ियां क्यों बांधे रखने का प्रयास करती हैं? वर्तमान भारतीय समाज, धर्म प्रधान नहीं है। इस समाज की मूल्य-मान्यताएं धर्म द्वारा संचालित नहीं हैं। कहीं-कहीं उपन्यास लेखिकाओं ने स्त्री शोषण की निरंतरता को दिखाने के लिए धर्म के उन्हीं पक्षों को उभारने का प्रयास किया है जो आज के संदर्भ में प्रेरणा के स्रोत नहीं रह गए हैं। यह स्त्री आंदोलन तभी सफल होगा जब इसका दर्शन एक सम्यक् दर्शन के रूप में सामने आएगा। वह न केवल स्त्री की मुक्ति का मार्ग होगा अपितु संपूर्ण समाज के उत्थान का दर्शन होगा। इन लेखिकाओं ने उपन्यासों में यह भी बताने का प्रयास किया है कि नारी की जिन समस्याओं को उठाया गया है, वे केवल सतही स्तर पर समाधान पा सकती हैं। जब तक नारी पर होने वाले अत्याचार, शोषण, बलात्कार आदि की खबरें समाचार पत्रों में छपती रहेंगी, नारी को पूर्ण उन्मुक्त होने का अवसर कम ही मिलेगा। यह सब अपने-अपने दस्तावेज के रूप में इन महिला उपन्यासकारों ने उपन्यासों के द्वारा मुहर लगाने का प्रयास किया है। □

मां

कुंदनिका कापड़िया

गुजराती से अनुवाद : गोपालदास नागर

रेखांकन : श्रवणकुमार शर्मा



आखिर सरयू का विवाह डाक्टर अनंत के साथ तय हो गया। सभी को वर और धर पसंद आया था। सरयू को भी इसमें कोई विशेष आपत्ति नहीं थी। यद्यपि अनंत विधुर था तथापि उसकी आयु अधिक नहीं थी और अपने लंबे कद, गेहुए रंग और पतली इकहरी देह के कारण वह आकर्षक मालूम पड़ता था। उसके घर की, शहर में अच्छी प्रतिष्ठा थी। डाक्टरी उसने हाल ही में शुरू की थी, फिर भी उसका नाम शहर में विख्यात हो गया था।

फिर ऐसे लड़के के लिए सरयू कैसे मना करती? किंतु उसे एक बात खटकती थी— अनंत की पहली पत्नी का पांच वर्ष का बालक। विवाह के बाद तुरंत ही पांच वर्ष के बालक की मां बनना पड़ेगा, यह विचार उसके उल्लास को, उसके नवयौवन को, उसके सपनों को और उसके प्राण पंछी की आनंदभरी उड़ान को जिम्मेदारी की डोर से बांधे देता था। तिस पर वह बालक अपंग था।

विवाह होते ही ऐसे अपंग बालक की उसे देखभाल करनी होगी, सवेरे से रात तक बच्चे के सारे काम करने पड़ेंगे। उसे ऐसा लगता जैसे वह अनंत के घर उसकी पत्नी नहीं, आया बनकर जा रही हो। यद्यपि वहां सास, ननद और देवर सभी लोग थे, कुटुंब भरा पूरा था, फिर भी वह एक संस्कारी युवती थी, इसलिए अपने मन के संतोष के लिए भी माता के कर्तव्य से विमुख होना उसके लिए संभव नहीं था। यह एक बात उसे उदास बना देती, विवाह के प्रति उसके उत्साह को मंद कर देती थी, किंतु वह अपना विरोध, कुछ संकोच और कुछ अपनी संस्कारिता के कारण प्रकट नहीं कर पाती थी। और फिर विवाह का दिन भी पक्का हो गया।

अनंत का बालक शुरू से ही अपंग नहीं था। जन्म के समय तो वह बहुत स्वस्थ और सुंदर था। उसमें एक विशेषता थी। वह अपनी मां को बहुत चाहता था। वह कितना ही रोता, किसी के पुचकारने पर न मानता, किंतु अपनी मां को आता देख वह रोना भूलकर इस तरह मुस्कराता कि मां दौड़कर उसे गोद में उठा लेती और माथे को चूम लेती। तब ऐसा जान पड़ता जैसे वह स्वर्ग में बैठा आनंद की अनंत-धारा में स्नान कर रहा हो। जबकि ढाई-तीन बरस के बच्चे सड़कों-आंगनों में खेला करते हैं, तब किरण रसोई में अपनी मां से ही चिपका रहता। पीछे से अचानक आकर वह खाना बना रही मां को परेशान करता और फिर सामने आकर हंस पड़ता। इस तरह हंसते हुए जब वह मां को देखता तब उसकी दोनों मधुर आंखों

से ऐसा प्रेम बरसता कि सभी विनोद में सुशीला से कहते, 'बेटे तो सभी के होते हैं, पर तेरे बेटे की तो बात ही निराली है!'

सुशीला बिना कुछ उत्तर दिए, मंद-मंद मुस्कराती। बालक इतना प्यारा-प्यारा था कि वह उसे किसी बहुत कीमती वस्तु की तरह सुरक्षित रखती। उसकी शरारतों से वह बहुत बार परेशान हो जाती, फिर भी वह उसे अपनी नजर से ओझल नहीं होने देती। इस प्रकार बेटा अपनी मां के आसपास ही, उसकी छाया की तरह बना रहता।

किंतु एक दिन मां-बेटे के सुख की इस अविच्छिन्न धारा में एक बाधा आ खड़ी हुई। किरण एकाएक सख्त बीमार पड़ गया। शुरू-शुरू में तेज ज्वर आया, फिर वह बेहोश होने लगा। उसके हाथ-पैर तन जाते। मुंह में झाग आ जाता और आंखें ऊपर को चढ़ जातीं। बेहोशी दूर होने पर ऐसा लगता जैसे वह मृत्यु से टकराकर लौटा है। उसका चेहरा पीला पड़ जाता और होश आने पर वह व्याकुल आई दृष्टि से मां को देखता रहता।

सुशीला एकाएक घबरा उठी। अनंत ने शहर के एक अच्छे डाक्टर को बुलवाया, लेकिन वह भी रोग का ठीक-ठीक निदान न कर सका। बच्चे की स्थिति गंभीर थी, फिर भी डाक्टर ने कहा, "चिंता करने की कोई बात नहीं है। ठीक हो जाएगा।" हां, जाते समय उसने अनंत को बुलाकर धीमे से कहा- "यों तो कोई खतरा नहीं है, पर संभव है कि एकाध अंग अपंग हो जाए। निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, किंतु अगर ऐसा हो जाए तो कोई नई बात न होगी।"

किरण ने दो दिन असह्य पीड़ा में बिताए। सुशीला लगातार उसके सिर पर हाथ सहलाती बैठी रहती। किरण को जब होश रहता तब वह सिर पर मां का हाथ फिरते देख बड़ी शांति पाता, किंतु जब बेहोश हो जाता तब उसका समग्र अस्तित्व जैसे उस शांति को पाने के लिए व्याकुल हो जाता, उसके प्राण जैसे गिर-गिर पड़ते।

तीसरे दिन उसकी छटपटाहट कम हुई। बिना बोले वह चुपचाप पड़ा रहा। सबने चैन की सांस ली। किंतु बालक की प्रत्येक प्रक्रिया को देख रही सुशीला को लगा कि जैसे पैरों में जड़ता आ गई है, क्योंकि वह उन्हें उछाल नहीं रहा था। अन्य चेतनामय अंगों के साथ जैसे उसका कोई संपर्क ही नहीं था। इस बात की प्रतीति के लिए जब उसने बेटे का एक पैर सहज ही ऊंचा उठाकर नीचे रखा तो वह निर्वीज

लकड़ी की तरह पड़ गया। चारपाई में पड़े हुए फूल जैसे मधुर कोमल बालक की यह स्थिति देख सुशीला की सारी चेतना लुप्त हो गई और वह चीख मारकर बेहोश हो गई।

होश में आने पर सुशीला ने अपने जीवन की सरसता को मिटा हुआ पाया। उसके मन पर अंधेरी रात जैसी वेदना व्याप्त हो गई। उसका किरण अब चल नहीं सकेगा, खेल नहीं सकेगा, इस विचार मात्र से उसका दिल जैसे कट जाता। दुनिया की तमाम समृद्धि एकत्र करके चरणों में डाल देने पर भी जिसका मन नहीं पिघले, उस परमेश्वर के नाम पर सुशीला कई दिनों तक आंसू बहाती रही, किंतु एक बार जो नियति ने लिख दिया, उसे कौन मिथ्या कर सकता है?

किरण धीरे-धीरे स्वस्थ होता जा रहा था, किंतु इन दिनों उसने जो अपार यातना भोगी थी उसके परिणामस्वरूप उसके ज्ञानतंतु निर्बल पड़ गए थे। दो दिन बाद सबको मालूम पड़ा कि वह अब बोल भी नहीं सकता। सुशीला फूट-फूटकर रो उठी। घर के सभी लोगों को बड़ा दुख हुआ। सुशीला के जीवन का समूचा ढांचा ही जड़ से हिल उठा।

अनंत ने काफी इलाज किया, किंतु कुछ सफलता न मिली। बड़े प्रयत्नों के बाद किरण ने बैठकर खिसकते-खिसकते थोड़ा चलना सीखा, किंतु उसकी जवान नहीं खुली। इस बीमारी के बाद वह मां के प्रति अधिकाधिक प्रेम जताने लगा था। यद्यपि वह कुछ बोल नहीं सकता था, फिर भी अस्पष्ट स्वर में 'मां, मां' करता। खिसककर वह रसोई में पहुंच जाता और पहले की तरह, पर अधिक गहरे भाव से, मां को निहारता रहता।

अपने फूल जैसे बालक की यह दशा सुशीला नहीं देख पाती थी। वह दिन-दिन व्यथित होती रही। शाम को जब पड़ोस के दूसरे लड़के खेलने के लिए जुटते तब वह देखती कि किरण अकेला बाहर बरामदे के कोने में बैठा भूरे आकाश की ओर देखा करता। बादलों से आच्छादित आकाश में जब एकाध तारा चमक पड़ता तब उसके मुंह पर प्रसन्न मधुरता फैल जाती और अस्पष्ट स्वर में वह 'मां' जैसा कुछ कहता। सुशीला की आंखों में आंसू आ जाते।

बालक की मूक भाषा में जैसे हजारों रहस्यपूर्ण बातों का भंडार भरा होता। कई बार वह ऐसी व्यग्र दृष्टि से मां के सामने देखा करता, मानो अभी उसके हृदय की वेदना बोल उठेगी। पर वह कुछ नहीं बोलता।

कई बार वह बरामदे के कोने में बैठा सामने की खुली धरती को मन ही मन सैकड़ों फूल-मालाओं से सजाता रहता। तब उसकी नीली भूरी आंखों में कैसा अद्भुत प्रकाश छा जाता था! उसका मुख अधिक उज्जला पड़ जाता... कोई अनिवर्चनीय अव्यक्त आनंद उसके अंग-अंग को भर देता। खुले मैदान में दोनों हाथ फैलाकर उसका जी वहां तक दौड़ जाने को करता, जहां धरती और आकाश मिलते हैं। चांदी जैसे बादलों के उस पार पंख फड़फड़ाकर वह उड़ जाना चाहता।

किंतु यह सब तो सुशीला ही समझती। बालक के हृदय के साथ उसने ऐसी एकता प्राप्त कर ली थी कि वह उसकी मूकवाणी को भलीभांति समझ लेती, किंतु इससे तो उसका दुख और भी बढ़ जाता। ये सारी अधिक उत्कंठाएं, अमित आशाएं, उठती हुई महत्वाकांक्षाएं, क्या ये सब अपूर्ण ही रह जाएंगी? क्या वह बेचारा जीवनपर्यंत इनके सपने ही देखता रहेगा?

सुशीला के हृदय का घाव गहरा होता जा रहा था। सबने उसे कमजोर होते हुए, रह-रहकर क्षीण होते हुए, मृत्यु के समीप जाते हुए पाया। उसका कारण था- किरण की इस मौन अज्ञात प्रसन्नता के पीछे छिपी हुई वेदना। इसे कोई समझ नहीं पाता था। केवल अनंत उसे समझ रहा था, किंतु इसका उपाय ही क्या था?

सुशीला का स्वास्थ्य बिगड़ता गया। किसी ने कहा, "बहू को हवा बदलने के लिए ले जाओ।" किंतु यह बीमारी हवाफेर के बस की नहीं थी। सुशीला ने इस तरह व्यर्थ धन का अपव्यय नहीं होने दिया। उसके हृदय को ऐसा धक्का लग चुका था कि शरीर के ढांचे को दहते देर न लगी। प्राणों से भी प्यारे बेटे की वेदना के कारण उसे छोड़कर एक दिन उसने इस दुनिया से अंतिम विदा लेने के लिए आंखें बंद कर लीं। सदा के लिए ज्योति बुझ गई।

मृत्यु के समय सुशीला ने किरण को अपने पास बुलवाया। अंतिम बार उसके घुंघुराले रेशमी बालों में जब हाथ फेरा, तब इन पल्लों को स्थिर रखने की, अंतर के आलिंगन में जकड़कर रखने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गई। किरण भी इन मधुर पल्लों में तल्लीन हो गया था, किंतु मृत्यु ने अपना कर्तव्य पूरा किया और उन दोनों की परवाह नहीं की- न उस स्वप्न जैसे सुंदर सुकुमार बालक की और न वेदना और प्रेम की संगमरूपा सुशीला की। घर में जो कुछ था उसे वैसा ही छोड़कर मृत्यु एक दुखी प्राणी को लेकर चलती बनी और अपने विजय प्रस्थान के पीछे शोक,

ग्लानि और दुख की गहरी छाया छोड़ गई।

अपने स्नेही स्वभाव और व्यावहारिक निपुणता के कारण सुशीला ने सबके मन को जीत लिया था, इसलिए उसकी मृत्यु से सबको बहुत दुख हुआ। किंतु सबसे गहरी वेदना तो उस बालक की थी जो इतने बड़े घर में, इतने लोगों के बीच निराधार और एकाकी बन गया था। कौन कह सकता था कि जो घटना घटी थी उसे वह समझ गया था। खिसक-खिसककर वह उन स्थानों में बार-बार जाता, जहां मां खाना बनाती थी और चारपाई पर सोती थी। वह वेदनापूर्ण हंसी हंस्ता, लेकिन उसे कोई उत्तर नहीं मिलता था। पहले वह सोचता कि वह चेहरा जिसे देख वह आनंद के सागर में डूब जाता था, अब कहां गया? किंतु बाद में वह धीरे-धीरे उदास रहने लगा।

पहले दो-तीन दिनों में तो वह 'मां-मां' के अस्पष्ट उच्चारण करता रहा, बाद में वह भी बंद हो गया। पहले जैसी शांत प्रसन्नता से उसका अंग-अंग प्रफुल्लित नहीं होता था। केवल पहले की तरह वह अब भी बरामदे में बैठा-बैठा पहले की अपेक्षा अधिक देर तक चुपचाप आकाश की ओर न जाने क्या देखा करता?

उसकी यह व्यथा सभी को स्पर्श करती। किंतु उसके पास वाणी नहीं थी, इसलिए बातें करने या अन्य किसी प्रकार से उसे बहलाया नहीं जा सकता था। अनंत ने उसे खिलाने के लिए एक नौकरानी रखी, किंतु किरण उससे प्रसन्न नहीं हुआ। अनंत उसके लिए ढेर सारे खिलौने ले आया, पर किरण ने उनकी ओर देखा तक नहीं। मां के जाने के बाद वह जैसे किसी को पहचानता ही नहीं था, अकेला खिसक-खिसककर घूमा करता और उदास आंखों से अपने लिए रखी गई नौकरानी को देखा करता। कभी उसकी तरफ से दृष्टि घुमा लेता जैसे वह सारी वस्तुओं में मां को ही ढूँढ़ता फिरता हो और मां को न पाने पर बहुत निराश हो जाता हो।

कुछ समय बाद अनंत के दूसरे विवाह की बात हुई। सुशीला के प्रति अनंत का बड़ा प्रेम था, लेकिन अभी वह बिल्कुल युवक ही था। दूसरे विवाह की बात का उसने कोई विरोध नहीं किया, किंतु मन ही मन उसे किरण की चिंता हो रही थी।

उस बालक ने अपने मूक जीवन में अपनी मां को इतना स्थापित कर रखा था कि अनंत उसकी इस स्वप्नमयी अवस्था को स्पर्श करते हुए हिचकता था। अपनी वात्सल्यमयी मां का स्थान किसी दूसरे

ने ले लिया है, यह देखकर उसके कोमल मन को कैसा आघात लगेगा, यह अनंत जानता था। वह स्वयं भी इस बालक को प्यार करता था। वह उसका अपना बच्चा था, इससे कहीं अधिक वह उसे अपनी मृत पत्नी के प्रेम की शेष स्मृति मानकर सुरक्षित रखना चाहता था।

किंतु उसके मूक जीवन के कारण, उसके मुख पर छाए हुए अकल्पित विषाद के कारण तथा विशेषकर अपने व्यवसाय से कम समय मिलने के कारण वह उसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता था। इस बात का सदा उसे खेद रहता। किराए की नौकरानी पर कितना विश्वास किया जा सकता था!

उसकी मां वृद्ध थीं और किरण के आसपास के सौंदर्य को, वातावरण को, उसके अगम्य विषाद को स्पष्ट समझने में असमर्थ थीं। उसके वृद्ध पिता को यह बालक अच्छा तो लगता था, किंतु वह ऐसा शरारती बालक चाहते थे जो तुलसीभाषा में बातें करे और उनकी दाढ़ी-मूँछ खींचे।

इस गृहे और अपंग बालक के प्रति सबकी सहानुभूति थी, किंतु उसके स्वभाव की विशेषता के कारण कोई उसमें सक्रिय रस नहीं लेता था। अनंत की बहन को अपने ही बच्चों से फुर्लत नहीं थी। अनंत के दो छोटे भाई और एक बहन स्कूल में पढ़ते थे और उन्हें कोई चिंता नहीं थी। इस प्रकार इतने व्यक्तियों के बीच वह बालक सबसे अलग रहता। सुख और समृद्धि के बीच भी अनंत का मन एकाकी और उदास रहता।

आखिर उसने सरयू के साथ विवाह करने का निश्चय किया। उसे स्वयं तो सुशीला की मृत्यु से रिक्त हुए स्थान की पूर्ति के लिए जीवन-साथी की आवश्यकता थी ही, बालक का भी यदि सरयू के साथ मन लग जाए तो बड़ा अच्छा रहेगा। यद्यपि इसमें उसे शंका थी, लेकिन दूसरा चारा ही क्या था? यदि वह विवाह नहीं करता है तो उसे स्वयं तो कुछ सुख मिलेगा नहीं, साथ ही बालक के जीवन में उल्लास के संचार की संभावना भी न रहेगी।

सुशीला की मृत्यु के आठ मास बाद फिर अनंत के घर की दीवारें विवाह-सूचक हल्के लाल रंग से पुनः गड़ीं। दूसरा विवाह था, इसलिए कोई विशेष धूमधाम नहीं थी, फिर भी सबके चेहरों पर आनंद की स्पष्ट रेखाएं दिखाई पड़ रही थीं।

किरण इस सारी धूमधाम को शंकित और भयभीत निगाहों से देखता। यह सब क्या हो रहा है,

यह तो उसकी समझ में नहीं आता था, किंतु जो कुछ भी हो रहा था वह उसे अच्छा नहीं लगता था। ज्यों-ज्यों घर की धूमधाम बढ़ती गई और विवाह का दिन निकट आता गया, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक एकाकी और उदास होता गया।

सब लोग उसका ध्यान रखते थे, किंतु उसके मन में क्या हो रहा है, यह जानने की किसी को फुर्लत नहीं थी। अनंत कभी-कभी पास जाकर उसे हंसाने का मिथ्या प्रयत्न करता, उसके मन को समझने की कोशिश करता, किंतु गहरी दुख भरी आंखों के सिवाय किरण के पास और था ही क्या?

विवाह के एक दिन पहले वह अनंत के पास आया और उसने अनंत की ओर ऐसी वेदनापूर्ण दृष्टि से देखा कि अनंत की आंखों में आंसू आ गए। सुशीला की मृत्यु के समय वह जितना रोया नहीं था, उससे कहीं ज्यादा वह अब रोया। बालक के दुख से वह इतना विचलित हो गया कि एक बार तो उसने विवाह न करने का ही विचार कर लिया, किंतु वह जानता था कि विवाह न करने से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होगा, इतना ही नहीं, बालक के जीवन में फिर से आनंद की ज्योति पैदा होने की संभावना भी न रहेगी।

दूसरे दिन जब विवाह के लिए बारात ने प्रस्थान किया, तब अनंत के मन में दो प्रकार के भाव उठ रहे थे— एक तो यह कि वह किरण के प्रति कोई अच्छा काम नहीं कर रहा है और दूसरा यह है कि वह उसके प्रति विश्वासघात भी कर रहा है। पिछले दो दिनों से वह किरण के जीवन के विषय में सोचने में इतना निमग्न हो गया था कि वह ऐसा मानने लगा कि वह यह विवाह अपने लिए नहीं, बल्कि किरण के लिए कर रहा है। यदि उसके सामने कोई प्रश्न था तो यही कि इस विवाह से किरण को कितना सुख मिलेगा?

सरयू के आंगन में बारात आ पहुंची। उसने अनंत को एक खिड़की से लुक-छिपकर देखा था। फिर भी सरयू ने नवोद्वा की आंखों से पुनः उसे एक बार देखा। उसके हृदय में विवाहित जीवन की कितनी ही सुनहरी कल्पनाएं, आनंद के सुहावने चित्र आ-जा रहे थे। प्रेम और सौंदर्य से वह अपने जीवन के प्याले को लबालब भर देना चाहती थी।

किंतु उसके आनंद की सुभग कल्पनाएं उस अपंग बालक की याद से मलिन बन जाती थीं। उसके प्रति मन में सहानुभूति और करुणा होने पर भी, विवाह के प्रारंभिक सरस दिनों में ही उत्तरदायित्व का

भार उसे खटकता था। बालक यदि अपंग न होता तो शुरू में उसे ननिहाल भी भेजा जा सकता था। बाद में उसे बुला लिया जाता।

वह इस बालक और अपने बालक के बीच कोई भेद नहीं रखेगी, किंतु विवाह के तुरंत बाद के दिनों के जो मधुर चित्र उसने खींचे थे, कल्पना के स्वर्गिक महल बनाए थे, उन सबने असीम हर्ष और उल्लास से उसके मन का कण-कण भर दिया था और उसे लग रहा था कि यदि थोड़े समय के लिए उस बालक को संभालने की गंभीर जवाबदारी न होती तो कितना अच्छा होता! उसने सोचा कि शुरू के दिनों में वह बालक के लिए कोई आया रखने के लिए अनंत को मना लेगी। फिर अनंत की मां भी तो थी ही। उसे बहुत चिंता नहीं करनी पड़ेगी। अनंत के सिवा उसके घर के दूसरे व्यक्तियों को उसने नहीं देखा था, किंतु सबके लिए उसने अच्छी ही कल्पना की थी और भावी जीवन की पगडंडी पर आशा के फूल बिछा रखे थे।

आखिर सरयू का विवाह अनंत के साथ हो गया। माता-पिता से विदा लेकर वह पति के घर चल पड़ी।

वह पहली बार वधू बनकर ससुराल पहुंची। रात हो चुकी थी। वृद्ध सास-ससुर ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया। अनंत की बहन ने उसका मुंह देखकर कहा- “यह तो साक्षात् लक्ष्मी लगती है।” और प्रेम से उसका स्वागत किया।

अनजाने घर में सरयू को प्रथम प्रवेश सुखकर लगा, किंतु तभी उसे इस सुखी वातावरण के बीच उस अपंग बालक का खयाल हो आया। घिसट-खिसककर, बोल न सकने के कारण मात्र ‘ऊं-ऊं’ जैसा स्वर निकालते, लाचारी भरी दृष्टि डालते, अपनी अपंगता और निरीहता को रोने के सुर में बार-बार व्यक्त करते बालक की कल्पना उसे अच्छी नहीं लगी। यही नहीं, मन को खूब समझाने पर भी उसे घृणा-सी हो आई। किसे पता, कहीं मुझे ही मां समझकर कभी अपने धूल भरे हाथों से लिपट गया, तो?

वह अनमनी हो गई। कर्तव्य पालन करते हुए भी वह अपने सुखी जीवन में उदासी न आने देगी। उसी रात उसने अनंत को बालक के लिए आया रखने को कहने का विचार किया, किंतु उसके बारे में इतना विचार करने पर भी वह कहीं दिखाई नहीं दिया। कौतूहल से उसकी आंखें चारों तरफ घूम गईं। प्रतिक्षण उसके दिखाई पड़ जाने का भय उसे सता रहा था।

इसी समय उसने सुना, अनंत पूछ रहा था, “किरण कहां है मां?”

सरयू ध्यान से सुन रही थी। मां ने उत्तर दिया, “वह तो कभी का सो चुका है।”

सरयू ने निश्चिंतता की सांस ली- उसके रंगीले नए जीवन की मंगल घड़ियों में उसे कोई विषाद का दृश्य नहीं दिखाई दिया। उसका मन हल्का हो गया, किंतु उस बालक को देखने की उत्सुकता उसके मन में बहुत थी। पर उसने सोचा कि कल तो उसे देखना ही है, तब आज रात ही को वह न दिखाई दे तो क्या हर्ज है?

अचानक उसे खयाल आया कि पति के विषय में सोचने के बदले उसका सारा ध्यान बालक पर ही केंद्रित हो गया है। पति का ऐसा अनादर करने पर वह मन ही मन शरमाई।

बड़ी रात बीते स्वागत-सत्कार और मंगल-पूजा आदि समाप्त होने पर जब वह अनंत के सान्निध्य में प्रथम बार जाकर उपस्थित हुई तब पति के प्रेम में अपने आप को खो देने के लिए उसका समस्त नारी-हृदय आकुल हो उठा। वह घड़ी भर के लिए किरण को भूल गई।

सरयू की दृष्टि में अनंत को भी प्रेम और विश्वास की ऐसी गहरी छाप दीख पड़ी कि उसने अपने को धन्य माना। उसे जान पड़ा कि वह किरण की भी देखभाल करेगी और उसके अपंग और असहाय जीवन को अपने मातृप्रेम से भर देगी। बाद में तो प्रथम मिलन के सुहावने पलों में सरयू सब कुछ भूलकर अनंत के साथ एकाकार हो गई। दूसरी कोई बात करने का वातावरण ही नहीं बना और धीरे-धीरे रात्रि ने उन दोनों की मुंदी फुलियों पर स्वप्न का पर्दा डाल दिया।

दूसरे दिन बड़े सवेरे सरयू नीचे आई। सास के सिवा कोई जागा नहीं था। बंद खिड़कियां और दरवाजे खोलकर वह अंदर के कमरे में आंखें मूंदकर माला जप रही थीं।

सरयू क्षण भर उन्हें देखती रही और फिर घर का अवलोकन करने के लिए उसने चतुर्दिक् दृष्टि दौड़ाई। तभी उसने देखा कि बरामदे के छोर पर बैठा-बैठा एक अत्यंत सुंदर बालक आकाश की आभा को तल्लीन भाव से देख रहा है। किसी सगे-संबंधियों का बच्चा होगा, यह सोचकर वह उसके पास जा खड़ी हुई। घुंघराले काले बालों के नीचे उसने एक श्वेत कमल के समान मुंह देखा।

उसके चेहरे पर मृदुता की छाया व्याप्त थी और नीली-भूरी आंखों में एक अज्ञात वेदना झलक रही थी। दोनों गालों पर दो नन्हें अश्रुबिंदु, कमल की पंखुड़ी पर पड़े ओस कण की तरह जान पड़ते थे। समुद्र जैसे नीले रंग का उसने कपड़ा पहन रखा था। वह पैर फैलाकर बैठा था।

उसका रूप-रंग इतना मनोहर था कि वह कोई देवपुत्र जान पड़ता था, जो सामने फैली हुई विशाल धरती पर रास्ता भटक गया हो और मां से बिछुड़कर गगन पर दृष्टि डाले आंखों से मोती की बूंदें टपका रहा हो।

सरयू के हृदय में छिपी मातृत्व की वेदना छलक उठी। बालक के पास बैठकर उसने उसका मुंह स्नेह से अपनी तरफ फेरा और ममता भरे स्वर में पूछा- “तुम्हारा नाम क्या है, बेटे?”

आकाश में से दृष्टि हटाकर किरण सरयू की ओर देखने लगी। सरयू ने मीठी मुस्कान से कहा- “तुम्हारा कोई नाम नहीं है क्या?”

किरण कुछ नहीं बोली। चुपचाप उसे देखता भर रहा। सरयू को लगा कि शायद उसकी ननद का बेटा होगा। फिर प्रेमपूर्ण हंसी हंसकर बालक का मुंह अपनी छाती तक लाकर वह बोली- “मुझसे नहीं बोलोगे, बेटा?”

इस बार किरण हंसा। उसकी उसी पहले-सी चिर सुंदर कलात्मक मधुर मुस्कान ने उसके मुख को उज्ज्वल बना दिया। इस स्त्री के प्रेम में उसे अपनी मां के सजीव दर्शन हुए। जैसे मां ही छद्मवेश में उसकी मुस्कान का ऐसा उज्ज्वल प्रत्युत्तर देने लौट आई हो!

बहुत समय के बाद आज पहली बार वह फिर से उसी अस्फुट स्वर में बोली, “मां....!”

सरयू ने आश्चर्य से देखा कि वह बोल नहीं सकता था। उसके लंबे पैर चेतनाहीन थे। विस्मय, क्षोभ और दुख से वह एक पल बेसुध-सी हो गई। जिसके लिए उसने इतनी कल्पनाएं कर रखी थीं, मन में भले-बुरे चित्र खींच रखे थे, वह बालक यही था। इतना सुंदर, निष्कलंक और भोला! आवेग से उसने किरण को छाती से लगा लिया। प्रगाढ़ प्रेम से उसके ललाट को चूमा। उसकी आंखों से मोती जैसी दो बूंद किरण के माथे पर लुढ़क पड़ीं। किरण ने भी प्रसन्नता से आंखें मूंद लीं।

इसी समय अनंत दरवाजे पर आया और मां-बेटे को प्रेम-समाधि में लीन देखकर हर्ष से छलकती आंखों से, जैसे आया था वैसे ही धीमे कदमों से लौट गया। □

महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में समकालीन महिला समस्याएं

वैचारिक व जीवनमूल्यों के मूलगामी परिवर्तन के इस दौर में इतिहास से लेकर वर्तमान तक के उपेक्षित, अवमानित व तिरस्कृत पात्रों की ओर आम नजरिया बदला है। इसी के साथ-साथ महिला उपन्यासकारों के भीतर भी ऐसे पात्रों के प्रति मानवीय करुणा व सहानुभूति फूटती दिखाई देती है। अब उनको केवल उनकी सामाजिक स्थितियों के बीच रखकर घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता, बल्कि उनकी स्थिति के लिए उत्तरदायी समाजशास्त्रीय, मानसशास्त्रीय कारणों की पड़ताल की जाती है। यह सकारात्मक और आशाजनक पक्ष है कि महिला उपन्यासकारों ने न केवल महिलाओं की समकालीन समस्याओं को अनावृत किया है, उन पर अपना नजरिया स्पष्ट किया है और अपने साहस और क्रांतिकेयता का परिचय दिया है। महिला समस्याओं को लेकर लिखे गए महिला रचनाकारों के उपन्यासों का विवेचन मृत्युंजय उपाध्याय द्वारा

पहले की अपेक्षा गत दो दशकों में महिला जीवन की नाना समस्याओं को महिला उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में अपेक्षाकृत अधिक संजीदगी के साथ अपना प्रतिपाद्य बनाया है। इसमें शक नहीं कि महिलाओं में जागरण आया है, विकास का नया प्रकाश आया है। पर यह भी उतना ही भयावह सच है कि सामान्य अपढ़ महिलाओं के साथ शिक्षित, कामकाजी और संप्रभु महिलाओं का भी नाना स्तर पर शोषण जारी है। उन्हें 'सेकेंड सेक्स' यानी 'उपेक्षित', 'अन्या', 'दोयम दर्जे' का माना जाता है। सिमोन द बोउवा ने अपनी पुस्तक *सेकेंड सेक्स* में विश्व की महिलाओं का सर्वेक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि महिलाएं सर्वत्र उपभोग की वस्तुएं हैं और उनका नाना प्रकार से उपभोग होता है— शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्तर पर। विश्व भर में नारी की समानता और अस्मिता की रक्षा संबंधी जो अधिवेशन, आंदोलन और प्रकल्प सामने आए हैं, उनमें भी ये ही बातें विचारणीय रही हैं।

भारत की सभ्यता और संस्कृति में नारी को देवी माना जाता है। *वाल्मीकि* रामायण में लिखा है : *यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता*— जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता का वास होता है। यह धारणा कैसे खंडित होती गई और भारतीय नारियों को किन-किन समकालीन समस्याओं से जूझना पड़ता है— इसका विश्लेषण भारतीय हिंदी उपन्यासों में हुआ है। चूंकि महिलाएं भुक्तभोगी हैं, पीड़िता हैं, अपनी समस्याएं ईमानदारी और संजीदगी से रख सकती हैं, अतएव महिला उपन्यासकारों के व्यापक अनुभव-संसार से गुजरना हमारा अधीष्ट है। उपन्यास सामाजिक यथार्थ का अविकृत दर्पण होता है। वह नाना सामाजिक समस्याओं से टकराता है, जूझता है और समाधान का संकेत भी देता है। इसलिए इसी विधा को चुना गया है।

महिला जीवन की समकालीन समस्याएं हैं— दंपत्य जीवन में दरार और विघटन, उनका आर्थिक, शारीरिक और मानसिक शोषण, उनको समानता का अधिकार न मिलना, उनको दोयम दर्जे का मानना, उन्हें विकास का पर्याप्त अवसर न देना, उनकी अस्मिता पर उठते प्रश्नचिह्न, कामकाजी महिलाओं का आत्मसंघर्ष (पति-पत्नी के मध्य, मातृत्व एवं कार्यशीलता के मध्य, अपने एवं सहयोगियों के मध्य) नैतिकता एवं आधुनिकता का द्वंद्व। इन पर महिला उपन्यासकारों ने निष्ठापूर्वक लिखा है।

आज के उपन्यासों में परंपरा का उल्लंघन नहीं, व्यक्ति के आचरण और उसके अंतःसंघर्ष को व्यापक अनुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। पति-पत्नी का दंपत्य जीवन यदि स्वस्थ व सहज न हो, तो उनका पारिवारिक जीवन विभ्रंशित हो जाता है। एक पुरुष (सामंती वृत्ति के अनुसार) अपनी इच्छानुसार कई पत्नियां रख लेता है। फलतः बंटी हुई रातें, अपनी बारी में ही पति का सान्निध्य पाने का अधिकार, भावुक मन की पत्नी में गहरी तड़प भर देता था। एक पत्नी सोचती है— 'काश, मेरे पति की रातों का इस कदर बंटवारा न हुआ होता।'

दंपत्य जीवन में पति-पत्नी के मध्य तालमेल और समायोजन बहुत जरूरी है। इसके अभाव में दंपत्य जीवन लड़खड़ा जाता है :

'आपकी मेडिकल बुक में मन नाम की कोई चीज नहीं होती, आसू नाम की कोई डिस्जी नहीं होती, पर हमारे लिए यह कैसर और टी. बी. से भी बड़े होते हैं।'

पति का समूल प्यार और विश्वास न मिल सकने की स्थिति, निरंतर

व्यंग्यवाणों से आहत किए जाने की पीड़ा पत्नी को वैसी ही चोट पहुंचाती है जैसे हल्की-हल्की चोट देकर सुनार सोने का पत्तर पीट रहा हो।¹³

एक नायिका को आजीवन कौमार्य पसंद है, मां के घर ही रह जाना पसंद है, पर प्रियतम के घर प्यार के अभाव में घुट-घुटकर मरना पसंद नहीं है:

‘काश कि मेरी जिंदगी मायके में ही कट रही होती। काश मैं बूढ़ी होकर भी कुंवारी रह जाती, ताकि प्रियतम के घर जाने के साथ खत्म तो न होती।’¹⁴

संयुक्त परिवार के कारण भी संबंधों में दरार आई है। कुसुम अंसल की साध्वी संयुक्त परिवार के वातावरण में घुटन महसूस करती है और अपने पति यतीन से वहां से अलग रहने को कहती है, पर यतीन का उत्तर दांपत्य को विषाक्त बना देता है:

‘अगर तुम खुश नहीं हो तो चली जाओ।... मैंने तुम्हें कैद कर दिया है या मामूली से घर से उठाकर रानी की पदवी दी है।’¹⁵ या उसे पत्नी की भावना से कोई मतलब नहीं है। जहां पति पत्नी पर एकाधिकार समझता है, उसका शारीरिक शोषण तो करता ही है, उसके साथ मारपीट भी करता है, वहां दांपत्य भीतर से खोखला हो जाता है। पत्नी इसे कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती :

‘मैं तुम्हारी पत्नी जरूर हूँ, और समाज ने मेरे शरीर के साथ हर प्रकार का खिलवाड़ करने की आथर्षी तुम्हें दे रखी है, इसका यह मतलब नहीं कि तुम रोज मुझे मारो, रोज मेरी मृत्यु हो।...आज से तुम मेरे पास मत आया करो और हमारा पति-पत्नी का संबंध भी खत्म समझो।’¹⁶

दांपत्य जीवन की नानाविध समस्याओं पर महिला उपन्यासकारों गंभीरतापूर्वक विचार किया है। कहीं पति-पत्नी के मध्य अहं का टकराव घातक हो जाता है (सपनों में बंटा इंद्रधनुष- प्रभा सक्सेना, आपका बंटे- मन्नु भंडारी) तो कहीं अल्पशिक्षित पति के साथ बौद्धिक पत्नी का जीवन घुट-घुटकर जीने को अभिशप्त हो जाता है, तो कहीं वृद्धावस्था में नई पत्नी ले आना दोनों के लिए असंतोष का कारण बन जाता है (रुकोगी नहीं राधिका- उषा प्रियंवदा) और कहीं चरित्रहीन बाप की हवस से बेटी को बचाने की दहशत मां के चैन और उसकी सुख-शांति पर प्रश्नचिह्न लगा देती है। फलतः दांपत्य में सड़ांध आ जाती है (अकेला पलाश- मेहरुनिंसा परवेज)। इतना ही नहीं, सौत के आने से नारी का दांपत्य वेदना का असह्य भार बन जाता है। अपमान का हलाहल पीना मृत्यु का यंत्रणा से बढ़कर हो जाता है:

‘अवमानना के जखम सूखने की बजाय भीगे हुए उस कंबल की तरह भारी होते जा रहे हैं, जो न हटाकर एक ओर रखा जा सकता था, न ऊपर ओढ़कर अंदर की घुटन में जिया जा सकता था।’

सारी संपन्नता, भौतिक सुविधाओं के बावजूद पति का आत्त्विक प्यार नहीं मिलता, तो जीवन शून्यता से भर जाता है। यामिनी कथा (सूर्यबाला) की यामिनी सदा यामिनी ही रह जाती है। उसके जीवन में कभी उजाला नहीं आता। यामिनी विश्वास को बेइंतहा प्यार करती है, पर विश्वास उसे ‘तन’ से अधिक कुछ नहीं समझता। यामिनी को लगता है कि जहाज पर काम करने वाले व किसी अतिथि प्रवासी की तरह घर आने वाले विश्वास की नजर में उसका (यामिनी) महत्व एक ‘देह’, एक ‘तन’ या ‘शरीर’ से अधिक न था। संपूर्ण समर्पण जैसी कोई संकल्पना विश्वास के पास नहीं थी। मन न कभी विश्वास ने दिया, न लिया। यामिनी को मिला- विश्वास का भावनाओं, संवेदनाओं रहित केवल यंत्र-शरीर। एक मशीनी प्रक्रिया की तरह मिलते शरीर। जीवन की संपूर्णता की अनुभूति का एक छोटा-सा हिस्सा, एक, अंश, एक खंड, अधूरी तृप्ति। निखिल ने इसे ‘पत्नी’

के रूप में स्वीकार किया, इसके नारी रूप को पहचानना नहीं चाहा।

दांपत्य जीवन में मधुरता, सुख सौमनस्य, पारस्परिक राग, समझदारी के भी संदर्भ आए हैं, पर उन पर विचार यहां वांछनीय नहीं है।

आधी दुनिया शोषण से तबाह है। पुत्री होना पहला कलंक। फलतः गर्भस्थ शिशु की भूख हत्या। पुत्री ने पृथ्वी पर पहला प्रकाश देखा कि उसे अपमान, उपेक्षा, अवमानना का जहर दिया जाने लगा। शून्य की बांहों में (शांति जोशी) शीर्षक उपन्यास में कन्या को जन्म देने के अपराध मात्र पर बहू भूखी-प्यासी रखी जाती हो, जहां पुत्र जन्म देने वाली जिठानी चारपाई तोड़ती रहती है। अपनी-अपनी यात्रा में मणिका के ससुराल वाले पग-पग पर कन्या के जन्म को कोसते हैं। क्षुब्ध होकर सुरेखा कहती है :

‘यह हमारा देश कितनी ही प्रगति करे, बेटी पैदा करने वाले मां-बाप का सिर हमेशा झुकता रहेगा। जब तक जीते रहें, बेटी की खुशी के लिए बिकते रहें।’

अंत में इसकी परिणति मणिका की मौत में होती है। कन्या के विवाह में प्रचलित दहेज-प्रथा के कारण कितनी युवतियां जला दी जाती हैं या घुट-घुटकर जीने को विवश रहती हैं। माता-पिता की चिंता बढ़ने के भय से ऐसी युवतियां सच का बयान नहीं कर पातीं। समाज का नजरिया भी उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं है।

मित्रो मरजानी (कृष्णा सोबती) की मित्रो वेश्या पुत्री होने के कारण सामाजिक अपमान झेलती है। स्थिति इतनी बदतर हो गई है कि उसकी मां तक उसे पतन मार्ग पर ढकेलने में नहीं चूकती, पर मित्रो अंतिम समय जाग जाती है और सर्वनाश से बच जाती है। डार से बिछुड़ी (कृष्ण सोबती) की पाशो एक घर से दूसरे घर भटकती, मरती-पिसती शोषण की साकार प्रतिमा बन जाती है।

उसका क्रंदन और हाहाकार नारी जीवन के शोषण की विविध समस्याओं को उजागर करता है। पति दीवान की मृत्यु होते ही सारे संबंधी उसकी जायदाद के लोभ में उसे बेधर कर देते हैं। एलान गली जिंदा है (चंद्रकांता) की रत्ना चाची भरी जवानी में वैधव्य के कारण दीनता-हीनता-विवशता की मूर्ति बनने के बजाय परिस्थिति की विषमता में अपने साहस व धैर्य का बखूबी परिचय देती है। छूत की बीमारी में मरे उसके पति के शव को उठाने कोई नहीं आता, तो वह अपने दम पर चमारों को बुलाकर अपने पति का अंतिम संस्कार करती है। इस तरह वह अपनी हिम्मत का परिचय देती है।

अल्बर्ट कामू ने लिखा है : ‘हमारी गर्दन किसी के पांवों तले दबी हो और हम विरोध की एक आवाज भी न निकाल पाएं, इसका सीधा अर्थ है कि शोषण में हमारी भी भागेदारी है।’

अधिकांश नारियां शोषण सह लेती हैं, पर कई महिलाओं ने अपने साहस और यथास्थिति से विरोध की बुलंद आवाज उठाई है। तत्सम (राजी सेठ) की वसुधा पति की बेरुखी की शिकार होकर अस्त-व्यस्त तो होती है। मैके आ जाती है, विश्वविद्यालय में नौकरी करने लगती है। पर वह कोई सामान तो नहीं, जिसे बदल दीजिए या फिर एक स्थान पर रख दीजिए। वसुधा को शरत एक जीती-जागती जिंदगी मानता है और उसके पुनर्विवाह का विज्ञापन देता है। उसका तर्क है :

‘जूता टूट गया, दूसरा ले आओ। घड़ी बिगड़ गई, दूसरी खरीद लो। कपड़ा फट गया, फिर सिलवा लो। और यह जीती-जागती जिंदगी?... अरे सारे कायदे

कानून, सारी रोक-टोक जिंदगी को छुपाने के लिए ही है... एक उसे ही नाकाम कर देने के लिए।'

वसुधा का आनंद में रुचि लेना इसकी परिणति है। विरोधी स्थितियों, नकारात्मक मनःस्थितियों के भंवर में फँसकर भी मनुष्य का साबुत बाहर निकल आना और जीवन के प्रति संपूर्ण आस्था का अनुभव करना वसुधा की उपलब्धियाँ हैं।

नारी जीवन की कितनी बड़ी विडंबना है कि स्त्री से उसके अनुभवों की बजाय पुरुष के अनुभवों की अभिव्यक्ति की मांग की जाती है। 'क्या यह विरोधात्मक नहीं है कि एक ओर भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति की मांग की जाए और दूसरी ओर उसी को स्त्री का सीमित सच कहकर उनका निषेध किए जाए!' 'किसी परिदे के पर काटकर उससे आकाशीय उड़ान के अनुभव की अपेक्षा करना कहां तक उचित है?' 'विश्व में इतने वैज्ञानिक आविष्कार हुए, इतनी उपलब्धियाँ आई, नाना परिवर्तन हुए, पर स्त्री को यह सोचने और करने के लिए बाध्य करना कि उसका संसार घर, परिवार, रिश्तों, नातों को पकड़कर बैठना भर है, उसकी रचनात्मकता का विश्व बहुत छोटा है- यह नारी शोषण की कितनी बड़ी साजिश है! उसके प्रति घोर अन्याय है।

एंजिल्स ने लिखा है कि आर्थिक पराधीनता नारी शोषण के विविध क्षितिज तलाशती है। इसलिए उनका काम-काज में लगना, सार्वजनिक उपक्रमों में उनकी नियुक्ति अनिवार्य है। नारी घर के काम-काज में समर्पित हो गई, तो सारा परिवार उसी पर निर्भर करने लगता है। यह भी उसका प्रत्यक्ष शोषण है: 'हां, शादी के बाद औरत पूरे परिवार के लिए शिकारे की मांझी बन जाती है। उन पर सारा परिवार मजे-मजे झूमते हैं और चप्पू चलाती है औरत। उम्र भर चलाती जाती है। उसका वक्त तब सुधरेगा, जब वह अपनी जीविका आप कमाने लगेगी।'

ए लड़की (कृष्णा सोबती) में नर के महत्व अथवा नारी की हीनता का प्रसंग बड़ी खूबसूरती से व्यक्त हुआ है। 'नर जिस जल में स्नान करता है, नारी उसी को धारण कर हरियाती है।' ¹⁰

परंतु यह गौरतलब है कि नारी में अपने स्वातंत्र्य और अस्मिता के लिए जागृति आई है। उनकी आवाज तेज होने लगी है और विरोध का तेवर आक्रामक। कुसुम अंसल की साध्वी ऐसे चरित्र की सृष्टि है, जिसका विकास सामाजिक ढांचे की परंपरा को केंद्र में न रखकर, नारी की बनी-बनाई परंपरा से निरपेक्ष विशुद्ध नारी के रूप में अपने को देखने व रखने की कोशिश है।

नारी को अन्याय, 'उपेक्षिता' और 'दोयम दर्जे' का बनाने की पुरुष की गहरी साजिश प्रामाण्य है। इधर उसे देवी कहकर प्रसन्न करना, उधर उस पर कहर ढाना। समाज चाहता है- नारी को समाज, ईश्वर, पुरुष पति के प्रति भय होना चाहिए। उसके प्रति महान आदर्श व समर्पण होने चाहिए, जिसके अग्निकुंड में आसानी से इसकी हवि चढ़ पाए। परंतु साहसी उपन्यासकारों ने इसके विरुद्ध भी प्रतिमा गढ़ी है, जिसे समाज किसी कीमत पर नकार नहीं सकता, भले ही उसमें स्वीकारने की हिम्मत न हो।

हेराल्ड शाइओक ने स्त्री की शारीरिक संरचना के महत्व पर टिप्पणी करते हुए बताया है कि पुरुषों की अपेक्षा उसके अंग भले ही उलझे हुए हों, पर उसमें अपार जीवनी शक्ति है। अनंत जिजीविषा है। मानसिक धरातल पर भी वह पुरुष की अपेक्षा अधिक मजबूत है। इसे ही *कोमलानि कुसुमादपि वज्रादपि कठोराणि* कहा गया है। उसको केवल अपने अंगों के प्रति सावधान और गौरवान्वित होने की जरूरत है। *मित्रो मरजानी* की मित्रो समाज रचित आदर्शों को उसके लिए

बनाई गई सभी सभ्य परतों को छीलकर नग्न प्राकृतिक रूप में बाहर निकल आती है। मित्रो बार-बार स्त्री की काम भावना को और उस काम भावना के बहाने उसके स्त्री होने को स्वीकार करने का आग्रह करती है।

दीप्ति खंडेलवाल के उपन्यास *प्रतिच्छादिका* में नारी को अपने विकास के लिए पेशा चुनने का अधिकार नहीं है। वह अपनी संगीत-कला को विकसित करना चाहती है, पर पति उसे डांट देता है: 'सुन री! मुझे यह गाना-बाना अच्छा नहीं लगता। मुंह बंद करके रहा कर।'

पचपन खंभे लाल दीवारों की सुषमा भी विद्यालय के छात्रावास में बंदिनी का जीवन जीती है। अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाती। अपनी सामाजिक, आर्थिक विवशताओं के कारण सुषमा न सहज जीवन जी पाती है, न अपने चहेते नील से विवाह ही कर पाती है। उसका आत्मकथ्य ध्यातव्य है:

'सुषमा को लगा, कि जैसे वह शरशैया पर लेटी है। बुरी तरह बिंधी हुई, दारुण यंत्रणा से छटपटाती हुई...।'

जाड़े की धूप में रजनी पनिकर ने बताया कि अर्धाभाव ही नारी को उसका तन, उसकी अस्मिता बेचने के लिए बाध्य करता है। उसे विकास के अवसर नहीं देता। लड़कियों को स्कूल न भेजना, हाईस्कूल पास कर गई, तो ऊंची कक्षा में नाम न लिखवाना (ताकि ऊंचा दहेज न लगे), घर के कामकाज में लड़कियों को जोते रहना। इतना ही नहीं, कमाऊ पत्नी को भी अपने कैरियर, उच्च शिक्षा, विकास के लिए कहीं फीस, पूंजी देनी पड़े तो उसे रोकना कि वह फिर परिवार में पैसे नहीं देगी, स्वेच्छाचारीणी हो जाएगी, आदि सवाल भी मथते रहते हैं।

आज नारी नौकरी की तलाश में घर से बाहर निकली हुई है। वह प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ सक्रिय भूमिका निभा रही है। वह बाहरी परिवेश में समायोजित हो रही है। किंतु एक ओर संस्कारों की पारंपरिक गरिमा, दूसरी ओर बदलती हुई बाहरी दुनिया में बढ़ती हुई असुरक्षा उसे तलवार की धार पर चलने जैसी अनुभूति देने लगती है। निरुपमा सेवती ने उसकी स्थिति का वर्णन किया है:

'हां, संस्कारों की गरिमा औरत को कितनी प्यारी है। बदलती हुई बाहरी दुनिया उसके लिए इस असुरक्षा की फुंकार को और बढ़ा देती है।...विश्वास निर्वासित होने लगते हैं तो असुरक्षा अवचेतन में कुछ और धंसने लगती है।''

महत्वाकांक्षा और नवोदित आत्मविश्वास *शेषयात्रा* की अणुका को सब कुछ देते हैं- पति, नौकरी, संतान। प्रणव के तलाक देने के संकट के बादल को इस आत्मविश्वास की हवा उड़ा देती है। उसका परिवर्तित और आधुनिक महत्वाकांक्षी रूप देखकर संयोगवश मुलाकात होने पर प्रणव को अपनी मूढ़ता शुब्ध किए बिना नहीं रहती।

अकेला पलाश में कार्यशील स्त्री कार्यालय और घर का दुहरा उत्तरदायित्व संभालते-संभालते थक गई है। बदले में मिलता क्या है? मेहनत से उपजी थकान, पुरुष के ताने और दोनों क्षेत्रों में पूरी ईमानदारी से काम न कर पाने का अपराध बोध। ¹² न उन्हें घर-परिवार में सहयोग मिलता है, न कार्यालय में पुरुष सहकर्मियों से। संयोग से महिला अधिकारी हो गई, तो उनके मातहत सहकर्मियों सहयोग के बदले षड़यंत्र और खुराफात करते रहते हैं।

नैतिकता के पुराने मापदंड टूट रहे हैं। नई धारणा, नए मूल्य पनप रहे हैं। *चितकोबरा* की लेखिका मृदुला गर्ग संभोग दृश्यों का रस लेकर विस्तृत वर्णन कर सकती हैं। कुसुम अंसल ने पूर्व निर्धारित नैतिक मूल्यों से अलग हटकर नारी

मानसिकता की यथार्थ भूमि पर अपने लेखन को आविष्कृत किया है। एक और पंचवटी (नायिका साध्वी) भारतीय समाज व्यवस्था, पारिवारिक तथा वैवाहिक व्यवस्था और पारंपरिक अनुशासन पर प्रश्नचिह्न लगाता है। समष्टिगत मूल्यों की रक्षा पारंपरिक मूल्यों का उद्देश्य है, पर परिवर्तित समय के साथ यह पारंपरिक व्यवस्था अपना अर्थ खो रही है और नए मूल्यों को तलाशी रही है। कुसुम अंसल नारी सापेक्ष दृष्टि की रोशनी में इस व्यवस्था, रिश्तों और मान्यताओं को परखती हैं और पाती हैं कि साध्वी का अपने समान बौद्धिक धरातल के व्यक्ति विक्रम से मिलना व विवाह कर लेना, दो अधूरे व्यक्तित्वों और दो असंतुष्ट आत्माओं की पूर्णता की तलाश है।

तुम्हारी रोशनी में उपन्यास की सुवर्णा, चित्तकोबरा (मृदुला गर्ग) की नायिका दैहिक पवित्रता से अलग हटकर अपनी प्रतिभा, बौद्धिकता और भावात्मक ईमानदारी के बल पर अपनी सम्मानपूर्ण मौलिक पहचान बनाती है। अन्य पुरुषों से संबंध स्थापित करने के बाद भी उनके भीतर कोई अपराध बोध नहीं है। सूरजमुखी अंधरे में की रतिका की सचमुच दिवाकर के संसर्ग में आकर सारी जटिलताएं, हीनता की ग्रंथियां टूट जाती हैं और वह सचमुच प्रकाश की ओर उन्मुख होती है, जैसा सूरजमुखी का स्वभाव है।

वैचारिक व जीवनमूल्यों के मूलगामी परिवर्तन के इस दौर में इतिहास से लेकर वर्तमान तक के उपेक्षित, अवमानित व तिरस्कृत पात्रों की ओर आम नजरिया बदला है। इसी के साथ-साथ महिला उपन्यासकारों के भीतर भी ऐसे पात्रों के प्रति मानवीय करुणा व सहानुभूति फूटती दिखाई देती है। अब उनको केवल उनकी सामाजिक स्थितियों के बीच रखकर घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता, बल्कि उनकी स्थिति के लिए उत्तरदायी समाजशास्त्रीय, मानसशास्त्रीय कारणों की पड़ताल की जाती है।

अब यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि अपनी इस घृणित परिणति के लिए महिलाएं स्वयं जिम्मेदार नहीं हैं। इसके लिए उत्तरदायी है हमारी समूची सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था भी। यह सकारात्मक और आशाजनक पक्ष है कि महिला उपन्यासकारों ने न केवल महिलाओं की समकालीन समस्याओं को अनावृत किया है, उन पर अपना नजरिया स्पष्ट किया है और अपने साहस और क्रांतिकेयता का परिचय दिया है। जैनेंद्र कुमार की विचारणा के अनुसार युग की प्रत्येक अगली लहर ने आगे लहराने का प्रयास किया है, प्राचीन रूढ़ियों, रुग्ण मानसिकता को तोड़ने की भरपूर कोशिश की है। □

संदर्भ-संकेत

1. कंदील का धुआँ : दिनेश नंदिनी डालमिया; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; पृष्ठ 175
2. अकेला पलाश : मेहरुनिशा परवेज; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ 175
3. कंदील का धुआँ : दिनेश नंदिनी डालमिया, पृष्ठ 175
4. अधूरी तस्वीर : वसंत प्रभा; आत्माराम एंड संस, दिल्ली; पृष्ठ 51
5. उसकी पंचवटी : कुसुम अंसल; हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली; पृष्ठ 19
6. और सूरज डूब गया : दिनेश नंदिनी डालमिया; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; पृष्ठ 55
7. अपनी-अपनी यात्रा : कुसुम अंसल; सरस्वती विहार, दिल्ली; पृष्ठ 114
8. नारी का रचना-संसार : एक दुनिया कोणांतर : संपादिका डा. माधुरी डेडा; मनीष प्रकाशन, 39/ 40, वेस्टर्न इंडिया हाउस, सर पी. एम. रोड, बंबई-400001, पृष्ठ 90-96
9. उपरिवत्, पृष्ठ 11
10. ऐ लड़की : कृष्णा सोबती; पृष्ठ 50
11. पचपन खंभे लाल दीवारे : उषा प्रियवंदा; पेपरबैक्स, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2; पृष्ठ 97
12. पतझड़ की आवाजें : निरुपमा सेवती; इंद्रपथ प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ 167

13. अकेला पलाश : मेहरुनिशा परवेज; पृष्ठ 44

संदर्भित उपन्यास

1. कंदील का धुआँ : दिनेश नंदिनी डालमिया; 2. और सूरज डूब गया : दिनेश नंदिनी डालमिया;
3. अधूरी तस्वीर : वसंत प्रभा; 5. उसकी पंचवटी : कुसुम अंसल; 6. अपनी-अपनी यात्रा : कुसुम अंसल; 7. आपका बंटी : मनू भंडारी ; 8. सपनों में बंटा इंद्रधनुष : प्रभा सक्सेना;
9. हकीमी नहीं राधिका : उषा प्रियवंदा; 10. पचपन खंभे लाल दीवारे : उषा प्रियवंदा; 11. एक और पंचवटी : कृष्णा सोबती; 12. मित्रों मरजानी : कृष्णा सोबती; 13. डार से बिछुड़ी : कृष्णा सोबती; 14. सूरजमुखी अंधरे के : कृष्णा सोबती; 15. ऐ लड़की : कृष्णा सोबती; 16. यामिनी कथा : सूर्यबाला; 17. एलान गली जिंदा है : चंद्रकांता; 18. तत्सम : राजी सेठ; 19. शून्य की बहों में : शांति जोशी ; 20. प्रतिध्वनियाँ : दीपति खंडेलवाल; 21. जाड़े की धूप : रजनी पनिकर
22. पतझड़ की आवाजें : निरुपमा सेवती; 23. चित्तकोबरा : मृदुला गर्ग

आजकल की विज्ञापन दरें

	एक निवेशन के लिए		चार निवेशन के लिए	
	रंगीन	श्वेत-श्याम	रंगीन	श्वेत-श्याम
पूरा पेज	8000	4000	25600	12800
आधा पेज	5000	2500	16000	8000
अंतिम आवरण	13000	7000	41600	22400
दूसरा अन्धवा				
तीसरा आवरण	11000	6000	32200	19200

तकनीकी विवरण

संपूर्ण आकार	21 सेंमी / 28 सेंमी
प्रिंट एरिया	17 सेंमी / 24 सेंमी
मुद्रण प्रक्रिया	आफसेट
अपेक्षित सामग्री	... आर्टवर्क/ आर्टपुल / पाजिटिव
प्राप्ति की अंतिम तिथि ...	दो माह पूर्व

डिमांड ड्राफ्ट ' निदेशक, प्रकाशन विभाग' को देय होना चाहिए।

विज्ञापन एजेंसियों को 15 प्रतिशत एजेंसी कमीशन दिया जाएगा।

विज्ञापन सामग्री तथा भुगतान राशि भेजने के लिए संपर्क करें:

विज्ञापन व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

ईस्ट ब्लॉक-4, लेवल-7,

रामकृष्णपुरम, सेक्टर-1,

नई दिल्ली-110066

फोन : 6105590 फैक्स : 6175516 / 6193012

नारी जीवन की स्मृति, स्थिति एवं गति

संदर्भ : ऐ लड़की

मृत्यु को स्वीकारना सभी के लिए आसान कार्य नहीं। कृष्णा सोबती के लघु उपन्यास ऐ लड़की में ऐसी एक स्त्री की जिंदगी उन लोगों की बातों से स्पष्ट हो जाती है जिन्होंने जीवन को उसकी तमाम जीवंतता और कटुता के साथ खुलेआम स्वीकार किया है। असल में इस उपन्यास की खूबी भी यह है कि इसमें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं पर अटल विश्वास व्यक्त किया गया है। उसके विभिन्न पहलुओं को आस्था के संतुलन के रूप में देखा-परखा गया है। नारी मुक्ति के संदर्भ में कृष्णा सोबती के इस बहुचर्चित उपन्यास का विवेचन प्रस्तुत कर रही हैं पमीला के.पी.

मृत्यु को स्वीकारना सभी के लिए आसान कार्य नहीं। कृष्णा सोबती के लघु उपन्यास ऐ लड़की में ऐसी एक स्त्री की जिंदगी उन लोगों की बातों से स्पष्ट हो जाती है जिन्होंने जीवन को उसकी तमाम जीवंतता और कटुता के साथ खुलेआम स्वीकार किया है। असल में इस उपन्यास की खूबी भी यह है कि इसमें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं पर अटल विश्वास व्यक्त किया गया है। उसके विभिन्न पहलुओं को आस्था के संतुलन के रूप में देखा-परखा गया है।

बूढ़ा तथा अस्वस्थ मां के संवादों से गुजरता हुआ उपन्यास आगे बढ़ता है। एक ओर वे परिच्छेद पुरानी कड़ी को आधुनिकता से जोड़ते दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर उसे विपरीत मानकर उसका तिरस्कार करते हैं।

स्त्री का जन्म और जीवन उसको क्या-क्या देते हैं, क्या बनाते हैं- यह सूक्ष्म व संश्लिष्ट सामाजिक समस्या के रूप में साहित्य में चर्चित विषय जरूर है। नारी-जीवन बनाया जाता है या प्रदत्त है, इसके आगे उसका क्या स्वरूप है, होना चाहिए। सामाजिक जीवन के ऊपर विधि-विधानों तथा आम धारणाओं का असर कभी भी समाप्त नहीं देखता। इस उपन्यास में भी लेखिका नारी स्वातंत्र्य के आयामों को तथाकथित नैतिक विश्वासों की बागडोर से संभालती नजर आती है।

उत्तर-आधुनिक परिदृश्य में नारी-मुक्ति आंदोलन का विशेष महत्व है। कृष्णा सोबती की विभिन्न कहानियों तथा उपन्यासों में साहित्यिक अवधारणा को लेकर चर्चाएं जारी हैं। यहां ऐ लड़की इस दृष्टि से भी परिचायक तो लगेगा ही। अनेक शब्दों तथा वाक्यों में मुक्ति की आकांक्षा तीव्र है, सम्योचित है और पुराणायामी भी। पर नियति, बिरादरी और समझौते के शब्दों में इसका वैपरीत्य भी हो जाता है। अर्थात् आंदोलनकारी परिदृश्य को लेकर जो बहस हो सकती है,

समग्रता की दृष्टि से यहां पूर्णरूपेण संभव नहीं। एक ओर माता की ममता पर बोलती मां फिर कभी अपनी लड़की से स्वतंत्र सत्ता की खोज करने की मांग करती है। पीढ़ी संघर्ष के साथ पीढ़ी संबंध करने वाली पाठावली जैसे वार्तालाप भी इस उपन्यास की विशेषताएं बढ़ाते हैं।

पति के नीचे ही परिवार में पत्नी का स्थान है, होता है- "लड़की, मर्द का दबदबा रहना ही चाहिए।" (पृ. 19) नारी के फैसलों पर गंभीर और खामोश रहने वाले आदमी की पहचान उसके लिए कठिन है। इसलिए वह अगले जन्म में पुरुष बनकर देखना चाहती है।

नारी और पुरुष को लेकर उनकी यह धारणा परिभाषित भी होती है। उनके अनुसार, 'हर नर मूरज से शक्ति खींचता है' और 'उसकी इष्ट है पृथ्वी। वह पराशक्ति बनी पुरुष के आगे-पीछे व्याप्त हो जाती है।' (पृ. 31) अतः नारी को सेकेंड सैक्स के रूप में देखने-बताने के तुरंत बाद ही उनकी दृष्टि प्राकृतिक संतुलन के रूप में प्रवर्तित आम स्त्री-पुरुष संबंधों पर जाती है। यह दृष्टिकोण पारिस्थितिक स्त्रीवादी आंदोलन के अनुकूल है।

पर स्त्री हो या पुरुष, हर एक की अपनी धारणा और भूमिका होनी चाहिए। इस पर लेखिका को शंका नहीं- 'इस दुनिया में कोई किसी का इरादा नहीं चुरा सकता।' (पृ. 32) अतः व्यक्ति के अहं की महत्ता या खुद की सांस की खुराबू सभी के लिए प्रिय है। इसलिए वह किसी भी साहित्य-धारणा या मुक्ति आंदोलनों से बढ़कर महक फैलाती है। अपनी पीड़ा भरी अवस्था में भी दूसरों के द्वारा होने वाला उपेक्षा-भाव उसे इस उत्तर-आधुनिक परिसर में विश्वसनीय है, स्वीकार्य है। अगली पीढ़ी की तेजी और शक्ति- दोनों को वह मंजूर करती है- 'मैं बचपन में अपनी हवा से ऊपर उठ जाती थी। वायु बड़ी शक्तिवान है। आंधी पुराने पेड़ों को उखाड़ती है...।' (पृ. 36)

अपने अंदर की मछली की तड़पती इस अवस्था में भी वह बालसुलभ सहजता में दुनियादारी की कर्तूतों पर चुहल करती है। पर अपनी नाकामयाबी को स्वीकार करती है कि 'पुरानी औरत तेरे काम पूरे हो चुके हैं, बस यह चोला छोड़ना बाकी है।' (पृ. 44)

यह कोई अस्तित्व दुख में तड़पती आधुनिक नारी का चित्र नहीं, जीवन को यथानुरूप जीकर, अपनी जिम्मेदारियों के सुख भोगती हुई मृत्यु तक को वरण करने को तैयार बन गई उत्तर-आधुनिक मां का नमूना है, जो पुत्र के न आने का बहाना भी समझ लेती है, पुत्री को मजबूर होकर सेवा करती हुई देखकर स्वयं को गुनहगार भी समझती है।

जीवन को वह विजय और पराजय- दोनों का समुच्चय मानती है- 'जिंदगी में कुछ मोना-नमकीन और कुछ मिश्री भी, इतना ही। पछतावा कैसा? हर्ष-शोक, लाभ-हानि, ऊंच-नीच सब बारी-बारी अपनी झलक दिखाते हैं। ऐसा किसी के हाथ में नहीं कि फुलझड़ियां ही छूटती रहें।' (पृ.39)

यह खुलापन बुजुर्ग जीवन की वयस्कता का प्रतिपादन ही नहीं, आज के दौर का तटस्थ जीवन-स्पंदन भी है। जो है, वही संभाव्य है। जो नहीं है, उस पर पछतावा नहीं। यह कोई नियतिवाद नहीं है। उन्हें विश्वास है कि काम करने वाले को ही जीत संभव है। काम का महत्व जीवन की धुरी है- "जो पोत बनाएंगे वही सागर में उतरेंगे। श्रम करेंगे तो फल पाएंगे। यही उत्स है। जीने वालों की प्राप्ति।" (पृ. 39) दुनिया की सुहानी स्थिति के साथ अपने को जोड़ना ही हर इंसान का कार्य है।

स्त्री के देह-व्यापार तथा शारीरिक महिमा की भी इस उपन्यास में चर्चा है। बच्चा पैदा करना स्त्री यज्ञ है और यदि वह बच्ची है तो समरूपा उत्पन्न करने वाली मां और भी महत्वकारिणी और पुण्यवती बन जाती है। क्योंकि उसका यह सृष्टिकर्म सदाजीवी होकर युग-युगांतरों से होकर चला जाता है। यह सिर्फ आदर्श रूप में नहीं बताया जाता। स्त्री-देह-व्यापार के रूप में इसका अनुभव अक्षुण्ण और अनन्य है- 'लड़की, बच्चे खयालों से नहीं बनते। बनाने में मेहनत लगती है। खून-पसीना एक हो जाता है मां का।' (पृ.30)।

इसी दर्द में सारा लोक औरत के अंदर समाता है, फिर वह मजबूत बन जाती है। अतः स्त्री जीवन के निखार के रूप में सृष्टिकर्म को देखने की यह दृष्टिवादों के परे नारी जीवन के उत्साह को बढ़ाने वाली है। नारी-माहात्म्य को स्वीकार करने वाले रेडिकल फ़ेमिनिस्टों में पुरुष की चिंता नहीं है। पर इस संदर्भ में मां, बाप पर या सृष्टिकर्म में आदमी की बाहरी भूमिका पर सहानुभूति प्रकट करती है। साथ ही नर में निहित 'लड़के की लालसा' को खुलकर बताती है।

नर-नारी संबंधों को लेकर शिकायत करने पर भी कुछ देर बाद बात उलट जाती है। कभी उन्हें लगता है कि नारी, नर की छाया ही है। जीवन की यह रीति संबंधों के समझौते जैसी है। क्योंकि 'किसी का साथ पाकर हस्ती कुछ और सी हो उठती है। अंदर-बाहर सब्जा उगने लगता है।' (पृ. 53) परिवार के आगे वाद या वादनिरपेक्षता नहीं, व्यवहार और आम सहमति महत्वपूर्ण है। दिलों की अर्गलाएं खोलने से ही स्वाधीनता संभव होती है। इसलिए वह आत्मविश्वास जगाती है- 'किसी के धकेलने से कोई धावक नहीं होगा।' (पृ. 56) हां, यहां औरत उठ जाती है, स्वाधीन हो जाती है, सामर्थ्य भी दिखाती है।

पर पूरे जीवन संदर्भ को लेकर, अपने अनुभवों को लेकर वह इस नतीजे पर पहुंच जाती है कि नर को इस समाज में जितना धन-अधिकार प्राप्त है, औरत

को उतना नहीं। इसलिए औरत की स्थिति अपनी जीविका आप कमाने की अवस्था में ही सुधरेगी- इस पर विश्वास करती है। क्योंकि अपने जीवन में वह भार ढोती रही, चप्पू चलाती रही, परिवार के लिए, स्वामी के लिए सुविधाएं जुटाती रही और उसकी अस्मिता 'उनके' बच्चों की मां के रूप में ही रहती है। इसलिए अब वह अपनी बच्ची को बताती है- 'अपनी खोज-खबर न लेगी तो कौन उसे पूछने वाला है।' (पृ. 64)।

एक प्रकार गृहस्थी के इन नामों के बोझ से मुक्त होना है। जीवन को अनुशासित रखना हर इंसान का कर्तव्य है, रीति-रस्म सख्त हैं। अर्थात् लिंग भेद की राजनीति की लकीर को तोड़ना है और आपसी रिश्तों से गृहस्थी के ताने-बाने को बुन लेना है। नारी की भी महत्वाकांक्षाएं होती हैं, होनी चाहिए। प्राचीन गाथाओं में गुंथी हुई त्याग कथाओं की महिमा खत्म हो गई है। इस धरती पर हर एक का अधिकार समान है।

परिवार को संभालने वाली नारी पर जो उपेक्षा-भाव विद्यमान है, उसकी वह निंदा करती हैं। साथ ही वह यह भी स्वीकार करती है कि 'घर का खेल बराबरी का नहीं। ऊपर-नीचे का है... इसी प्रभुताई के आगे गिरवी पड़ी रहती है, बच्चे की मां।' अतः इस झंझट में उसको 'अपने आप होना परम है, श्रेष्ठ है' निष्कर्ष ही प्राप्त होता है। (पृ. 65)

जीवन को जकड़ने के कुछ ऐसे अनुभव भी होते हैं जहां आदमी और औरत आपसी सहयोग या सहानुभूति नहीं रख सकते। इन विधि-विधानों की चिंता इस उपन्यास को 'समझौते' की राह तक पहुंचाती है। हमारे समाज की बिरादरी ऐसी है जिसमें स्त्री को स्वातंत्र्य नहीं मिलता है, न ही स्त्री उसे पा सकती है। गृहस्थी के मंथन-मर्दन को सहना उसकी नियति बन जाती है।

शिक्षा या दीक्षा के बदले अनुभव जगत में अनन्य बनने वाली महिला के रूप में इसकी मां का स्वत्व हिंदी साहित्य संदर्भ में महत्वपूर्ण बन सकता है। प्रश्न पूछने की रीति को छोड़कर सामंजस्यपूर्ण उपस्थिति का मोह इसमें भारतीय परिवेश के सहानुभूतिपूर्ण रचनाकर्म की झलक छोड़ता है। नारी-मुक्ति आंदोलन संबंधी धारणाओं के अंश इसमें जरूर ढूंढे जा सकते हैं। मगर यह भी जोड़ना होगा कि मिट्टी की बास और हास को छोड़कर एक आंदोलन के स्वरूप को इसमें खोजना ठीक नहीं होगा।

लगता है, कृष्णा सोबती के मन में इसको लेकर शंकाएं शेष हैं कि यदि स्त्रीपक्ष की चिंता अकेली स्त्री पर केंद्रीकृत की जाए तो पारिवारिक संतुलन की समग्रता में उसकी भूमिका कौन निभाएगा, वह भी इतने अच्छे ढंग से! सबके बीच अकेली पड़ी रहने वाली नारी पर, मां पर, उसकी पुरानी गाथाओं पर वेदना प्रकट करने वाली मां यह बताती है कि इसी घर में अगले जन्म में वापस आ जाऊंगी, क्योंकि यहीं उनके पूर्वजों की संचित समिधा है। यही संघर्ष इस कृति की उत्तर-आधुनिक संभावना है।

इसी प्रकार स्वतंत्रता के विशाल आकाश को झांकती हुई वह बेटो से हाथ मिलाती है, संबंधों की गौरव गरिमा पर गर्व करती है और आश्वस्त इस प्रकार हो जाती है- 'सब गर्म-सर्द समय में घुल मिल जाते हैं।' (पृ. 3) अतः ऐ लड़की एक ओर आंदोलनोन्मुख है तो दूसरी ओर सामंजस्यपूर्ण। इसका परिदृश्य पाठक को समकालीन संदर्भों से जोड़ता है, कभी-कभी तटस्थ कर देता है।

प्रश्नोत्तर के रूप में या आत्मोद्घाटन के रूप में इसकी भाषा की खुशमिजाजी सुंदर है। छोटे-छोटे वाक्यों में प्रसन्न और बांछनीय अर्थ-व्यापार हमें जीवंत और जागरूक रखता है। □

हिंदी की प्रथम महिला नाटककार

हिंदी की प्रथम महिला नाटककार की तलाश में जब सुदूर इतिहास में दृष्टिपात करते हैं, तो निराशा ही हाथ लगती है। मध्यस्थल के हिंदी साहित्येतिहास में ऐसा कोई नाम नहीं मिलता। भारतेंदु युग में बहुत खोज के बाद एक नाम मिलता है लाली देवी का। इनके नाम दो रूपों में आए हैं। डा. दशरथ ओझा अपने हिंदी नाटक कोश में इनका नाम श्री लाली देवी लिखते हैं। इनसे भिन्न डा. सुशीला धीर ने अपनी पुस्तक भारतेंदु युगीन हिंदी नाटक में इनका नाम श्रीमती लाली जी लिखा है। किंतु दोनों विद्वान इस बात में एक मत हैं कि यह गोपीचंद नाटक की लेखिका हैं, जिसका प्रकाशन 1896 ई. में हुआ था। हिंदी की प्रथम महिला नाटककार का परिचय दे रही हैं आरती वर्मा

वैसे तो हिंदी का नाट्य-साहित्य भारतेंदु के पूर्व स्वयं समृद्ध नहीं था। अच्छे और मौलिक नाटकों का नितांत अभाव था। इसका प्रमुख कारण रंगमंचों का अभाव था। नाटक एक सामूहिक एवं सामाजिक विधा है। यही कारण है कि लोकनाट्य के रूप में यह अधिक विकसित था, किंतु सर्जनात्मक साहित्य के रूप में हिंदी में इसका समुचित विकास नहीं हो पाया था। भारतेंदु ने इसे लोकरुचि, लोक-समस्या, लोक-चिन्ता और लोक-जागरण से संबद्ध किया। उन्होंने स्वयं अनेक नाटक लिखे। इस क्षेत्र में नेतृत्व करने के अतिरिक्त प्रयोग भी किए। अन्य लेखकों को नाटक लिखने की प्रेरणा दी और अनेक नाटकों में स्वयं अभिनय किया। नाटकों का विपुल साहित्य तैयार हो गया।

यह बहुत आश्चर्य पैदा करने वाली बात नहीं है कि उस समय नाट्य-क्षेत्र में महिलाएं नहीं के बराबर थी। अभिनय में सभ्रांत परिवारों की महिलाओं का भाग लेना तो लगभग असंभव था। इसका मूल कारण पर्दा-प्रथा थी। नाट्य-लेखन की दिशा में भी महिलाएं प्रवृत्त नहीं हुई थी। पर्दा-प्रथा के साथ ही नाटक का सामाजिक विधा होना एक महत्वपूर्ण कारण है। घर की चारदीवारियों में बंद रहने के कारण सामाजिक जीवन से उनका कोई प्रत्यक्ष सरोकार नहीं होता था जो नाट्य-लेखन की प्रमुख शर्त है। यही कारण है कि भारतेंदु-युग तथा उसके बहुत दिनों बाद तक नाट्य-क्षेत्र में लेखिकाओं की सक्रियता की कोई सूचना नहीं मिलती।

किसी विधा का प्रारंभ किसी एक व्यक्ति से होता है, ऐसा पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। इस निष्कर्ष पर पहुंचना भी कम दुष्कर नहीं है कि वह लेखक कौन-सा है। यह साहित्येतिहासकार की चिन्ता का एक महत्वपूर्ण कारण है।

इसी से मिलती-जुलती एक समस्या है कि हिंदी की प्रथम महिला नाटककार कौम है? जहां यह खोज एक दुष्कर कार्य है वहीं इसे अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता है। किसी खोज को आगे चलकर नई खोज असत्य सिद्ध कर दे। इसके बावजूद एक अनुसंधाता को तो यह खतरा लेना ही होता है, आगे चलकर भले ही वह खंडित क्यों न हो जाए।

हिंदी की प्रथम महिला नाटककार की तलाश में जब सुदूर इतिहास में दृष्टिपात करते हैं, तो निराशा ही हाथ लगती है। मध्यस्थल के हिंदी साहित्येतिहास में ऐसा कोई नाम नहीं मिलता। भारतेंदु युग में बहुत खोज के बाद एक नाम मिलता है लाली देवी का। इनके नाम दो रूपों में आए हैं। डा. दशरथ ओझा अपने हिंदी नाटक कोश में इनका नाम श्री लाली देवी लिखते हैं।

इनसे भिन्न डा. सुशीला धीर ने अपनी पुस्तक भारतेंदु युगीन हिंदी नाटक में इनका नाम श्रीमती लाली जी लिखा है। किंतु दोनों विद्वान इस बात में एक मत हैं कि यह गोपीचंद नाटक की लेखिका हैं, जिसका प्रकाशन 1896 ई. में हुआ था।

डा. सुशीला धीर ने अपनी पुस्तक के 'परिशिष्ट' में भारतेंदु युगीन नाटकों की वर्गीकृत तालिका दी है जिसमें पौराणिक नाटकों को- अ. रामकथा पर आधारित, आ. कृष्णकथा पर आधारित नाटक, तथा इ. अन्य नाटकों की श्रेणी में विभक्त किया है। 'अन्य' श्रेणी का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है- 'रामकथा व कृष्णलीला के अतिरिक्त अनेक प्रचलित पौराणिक कथाओं ने भी नाटककारों का ध्यान आकर्षित किया है। पौराणिक महान चरित-नायक अर्जुन, अभिमन्यु, कर्ण, गोपीचंद, हरिश्चंद्र, भक्त प्रह्लाद, भक्त ध्रुव, सावित्री सत्यवान आदि आकर्षण के केंद्र हैं।'

डा. धीर ने 'अन्य' वर्गीकरण में इनके नाटक गोपीचंद को क्रम में आठवें स्थान पर रखा है। प्रकाशन वर्ष 1896 ई. और भाषा में 'खड़ी बोली गद्य का साधारण रूप' लिखा है। इसके उपलब्ध होने की सूचना भी दी है। गोपीचंद नाटक पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने इस प्रकार लिखा है-

'गोपीचंद, (1896)। श्रीमती लालीजी का गोपीचंद नाटक खड़ी बोली गद्य के साथ, बंगला, गुजराती, मराठी गीतों का मिश्रित प्रयोग है। इसमें गीतों की प्रधानता है। लालीजी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि उनका नाटक इंदर सभा की शैली पर नहीं रचा गया। हिंदी में अपनी शैली पर मौलिकता के साथ नाट्यलेखन के प्रति उनका आग्रह है। नाटक की रचना रास-शैली पर हुई है।'

अशुभ संकेत-1

रात कितनी
डरावनी हो जाती है
जब बोलने लगती है
युवा चिड़िया
आस-पास के पेड़ों पर
हतवाक् रह जाता है उजाला
जब घर के आगे-पीछे
रोने लगती है बिल्ली
कुत्ते अंधेरे को
फाड़ने की कोशिश करते हैं
अपनी कांपती संवेदनाओं से
नींद आते ही
दिखते हैं सपने- आग के,
पेड़ों के गिरने के
दौड़ाते हुए भैंसे और ऊंटों को
बहुत कुछ होता है ऐसा ही
मौत उतर रही होती है जब
कहीं आस-पास !

अशुभ संकेत-2

भयानक होती है रात
जब खेलने लगती है नींद
कुछ अजीब दृश्यों से-
हंसते हैं लोग
नाचते-गाते हुए
जलती हैं भट्टियां
खौलता है तेल
पूड़ियां निकलती हैं ढेर सारी
पांत-पांत खाते हुए दिखते हैं लोग
खड़ी फसल कटती है
घर पूरा जलता है
कंकड़-पत्थर से पटी दिखती हैं
नदियां
बहुत कुछ होता है
इसी तरह सपने में... !

अपर-पक्ष

अपने ही पानी से
नहा रही है नदी
सूर्य अपनी ही गरमी से
तप रहा है
अपने ही भार से
दबी हुई है पृथ्वी
सागर अपनी ही गहराई में
डूब रहा है !

सन्नाटा

सन्नाटा है
कोई घटना घटी है
कहीं आस-पास
बेउम्मीद हुई है कोई बात
बे मुकाम पहुंच गया है कोई
सन्नाटा है.... !

ईरव की ढोआई

सिर पर
ईख का बोझ लेकर
भार लेकर जीवन का
मन पर
सरपट दौड़ रहे हैं लोग
मुक्त होने के लिए...

सीढ़ियों के
एक-एक डंडे पर
चढ़ रहे हैं
हिलते-थरथराते पांव... !

इससे स्पष्ट है कि यह नाटक आज की दृष्टि से भी एक प्रयोगधर्मा नाटक है। कई भाषाओं के गीतों का प्रयोग इसका प्रमाण है। यदि यह पद्य नाटक नहीं है तो गीतात्मक तो इसे कहा ही जा सकता है। इंदर सभा ने उस समय के नाटककारों की प्रभावित किया था जिसमें पद्य की प्रधानता है। किंतु श्रीमती लाली देवी इंदर सभा नाटक का प्रभाव नकारती है। वस्तुतः यह भारतीय परंपरा का नाटक है जो 'रास' से प्रभावित है। उस समय पौराणिक चरित्रों को लेकर नाटक लिखे जा रहे थे जिनसे जनता का मनोरंजन तो हो ही, उनमें नए जीवन-मूल्यों के प्रति आग्रह भी बढ़े, वे आदर्श की ओर अभिप्रेरित हों।

श्रीमती लाली देवी के इस नाटक की विशेषता है मौलिकता के प्रति आग्रह। यह हिंदी नाट्येतिहास का महत्वपूर्ण सत्य है कि एक महिला नाटककार ने अपने नाटक के द्वारा मौलिकता की ओर हिंदी नाट्य-साहित्य को उन्मुख किया।

डा. दशरथ ओझा ने अपने नाटक कोश में पुस्तक की प्रविष्टि इस प्रकार दी है :

'गोपीचंद (सन् 1896, पृ. 90), श्री लाली देवी, प्र. जैन मंत्रालय, लखनऊ,

पात्र: पु. 9, स्त्री 6; घटनास्थल: घर, जंगल।

गोपीचंद के दो विवाह होते हैं। प्रथम विवाहिता पत्नी सुलक्षणा और द्वितीय पत्नी कुमुदा है। गोपीचंद के संन्यास ले लेने पर कुमुदा का मर्मस्पर्शी विलाप इस नाटक की विशेषता है। इस नाटक में दोनों सपत्नियों का पारस्परिक प्रेम-भाव दिखलाया गया है जो प्रायः सामाजिक व्यवहार में कम ही पाया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि लेखिका ने गोपीचंद जैसे पौराणिक चरित्र के माध्यम ने नारी की विवशता, पति के बिना नारी की असहायता की ओर संकेत किया है। कुमुदा का विलाप इसी असहायता की ओर संकेत है। लेखिका ने सपत्नियों में पारस्परिक प्रेम-भाव दिखलाकर एक आदर्श स्थापन की चेष्टा की है। उस समय पुरुषों में बहुविवाह प्रचलित था। यह नारी की विवश स्थिति का ही द्योतन करता है। ऐसे में नारी का कर्तव्य होता है कि वे आपस में मिल-जुलकर इसे झेलें। इस दृष्टि से इस नाटक का महत्व बढ़ जाता है।

इस विवेचन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि लाली देवी हिंदी की प्रथम महिला नाटककार हैं। क्योंकि इनके पूर्व और बहुत दिनों बाद तक अन्य किसी महिला नाटककार की सूचना नहीं मिलती है। □

एक और भगोड़ा

सुधीर शाह

गोदूली 'दुल्ल ईजा' अर्थात् बड़ी मां की उम्र कुल जमा लगभग अट्ठाइस बरस की थी। लेकिन वक्त की तोखी मार, बेहाली, भूख, त्रास और भूखी-नंगी आंखों की कचोटती गिद्ध दृष्टियों ने गोदूली दुल्ल ईजा के मन को तो वक्त से पहले बूढ़ा कर दिया था, पर तन उम्र की उठान से अभी तक बेलौस धनुष-सा तना था। आखिर उम्र का गणित तो अपनी जगह बरकरार था।

हाथ भर का घूँघट डाले, धिगली पड़ी तार-तार धोती पहने, शरीर और मन से लापरवाह-सी दिखने-दिखाने वाली, पहाड़ के बड़े ब्राह्मण कुल में जन्मी गोदूली तेरह बरस में ब्याही, गोद और जमीन में चलते तीन बच्चों के बीच लसपसाती हुई, अचानक पक्षाघात से अपाहिज हुए टुंड हाथ-पैरों वाले शंकरिया के बाप पांडे जी की पथ्य-दवाई, जाड़ों में सरकारी दफ्तरों में जलने वाले पत्थरों के जले-अधजले कोयलों को अपने डाले में बीन-बीनकर बेचती हुई अपने घर-परिवार को पिछले दो साल से जैसे-तैसे थाह देती आ रही थी।

घर के पालनहार पांडे जी अशक्त मन और तन से चारपाई पर लुंज-पुंज पड़े-पड़े, उनींदी आंखों से अकाल मृत्यु की टकटकी लगाए बाट जोहते रहते। लेकिन मौत भी जैसे उनके लिए हरा गई थी।

उधर उधड़े धोती के पल्लू से आधा मुंह छौंपकर जबरन सबकी 'दुल्ल ईजा' बनती हुई, थकी-हारी, अपने बदन पर लालची आंख और जुबान से कचोट भरे कटाक्षों को सहेजती-दुल्कारती, बेर-अबेर हर सुबह पांच-साढ़े पांच बजे की निकली गोदूली नगर के होटल-ढाबों में उन्हें बेचकर बीस-पच्चीस रुपया कमाकर घर लौटती।

यह था जाड़ों में पेट भरने का जरिया। गर्मियां आते ही परिवार पालने की कोशिशें वह घर-घर से कपड़े लेकर उन्हें सिलते हुए पूरा करती थी।

और जब-तब उसकी जुबान की तह में यही घुमड़ता रहता- "अरे शंकरिया! अगर तू घर से भागा हुआ नहीं होता तो पंत-पांडों की रार वाली तेरी यह गोदूली ईजा कु-बखत के फेर से इस कलजुगी नंगे जमाने के बीच अपनी इज्जत बचाने के लिए आज 'दुल्ल ईजा' न बनती...हाय, भजुवा इस हाल में हमें छोड़कर घर से भागा तू...!"

बारह बरस का होते ही गोदूली का सबसे बड़ा लड़का शंकरिया घर में चारों ओर मंडराती भूखी मौतों के त्रास से एक रात घर छोड़कर मैदान की ओर भाग गया था। और तब से उसकी कोई खोज-खबर भी नहीं थी।

इसलिए एक तयशुदा नियति के क्रूर लेखे के खिलाफ जूझती-लड़ती अब अनाम उत्साह के साथ गोदूली सुबह से आधी रात तक एकटक जुटी रहती थी। बुरी तरह। अपने कुन्बे के भरण-पोषण के लिए। ससुराल, मायका और बिरादरी

के सहायता वाले सभी राह-रास्ते चलते दौर में कभी के बंद हो चुके थे।

और गोदूली ने इस भयावह आपात् को किसी प्रकार झेल भी लिया था। झेल भी रही थी।

उस भयंकर पाला पड़ी सुबह में, जब कोहरा घना-दर-घना होकर चारों ओर फैलता जा रहा था तो मैंने उसे होटल की स्टोर वाली नाली में ठिठुरती अंगुलियों से- जो लगभग फट चुकी थीं और जिनके पोरों में जमी हुई ठंड से खून तिरतिरा रहा था, रात-भर होटल की भट्टियों में जले कोयले- जो स्टोर की नाली में फेंक दिए जाते थे- अधजले कोयलों को जल्दी-जल्दी बीनते देखा तो पूछा- "इतनी बर्फीली ठंड में इतनी सुबह क्यों आ गई? दिन में आ जाती, तब इतमिनान से बीन लेती... यह कोयले राख की तरह उड़ थोड़े जा रहे थे...क्या थी इतनी जल्दी?"

मित्रो! जानकारी के लिए बता दू कि मैं उस होटल में मैनेजर था।

मेरा इतना कहते ही अचानक चौंककर गोदूली उर्फ दुल्ल ईजा का गोरा भरा हुआ हाथ तुरंत अपने सिर के ऊपर गया और आधे हाथ भर का घूँघट डाले, सिर को और झुकाकर वह वहीं सिकुड़कर बैठ गई। कोयला बीनता उसका हाथ रुक गया। थोड़ी देर बाद बड़े निरीह भाव से वह बोली- "ना मनिजर सैप! दिन में कैसे आती? ...तुम्हारे होटल का वह पनुबा चौकीदार जान-बूझकर सब अधजला कोयला सुरसती मेहतारानी को दे देता है और कहने न कहने की बेबात मुझ गरीब-अभागी बामुणी से कैता है...कुठौर जाए...मैं शंकरिया से दो साल बड़ा है...बदजात, मुझसे भौजी-भौजी कैता और गलत-सलत मजाक करता है। साहब, इसलिए इतने अंधेरे में मर-तरके आना पड़ता है। क्या करूं...बहुत मजबूर हूं...शाम को दो बच्चों, शंकरवा के अपाहिज बौजू और अपना जैसे-तैसे पेट भरना ठैरा...अन्यारी सुबह निकलती हूं और अन्यारी शाम डेढ़ मील दूर गांव पहुंचती हूं...कुल कुजाती निकला शंकरवा! नहीं तो द्वाबीसी सात-आठ की यह गोदूली हर किसी की साठ या सत्तर बरसिया दुल्ल ईजा या आमा बनती?... सब भाग का अनहोति खेल है सैप! ...सब अदेखे का टोला है...!" कहते-सुबकते गोदूली ने कोयले बीनने की बोरी तुरंत अपने सिर पर रखी और उसी कुहासे में नंगे, फटे और बिवाइयों भरे पैरों से कलकार तुप्पारे को रौंदती हुई धीरे-धीरे होटल के अगले मोड़ पर से गुम हो गई।

इधर सदीले थपेड़ों के तीखे तमाचों से सिहरता-ठिठुरता मेरे मन-तन के भीतर छुपा हुआ एक और कायर और भगोड़ा शंकरिया, चाय की आखिरी चुस्की लेता, शर्मिंदगी के भार से झुके हुए सर को लेकर, एकाएक भीतर अपने कमरे की तरफ मुड़ गया- एक नपुंसकी अवशता का भार लेकर।

ऊफ! कैसे और कितने-कितने शंकरिया होते हैं जीवन के रंगमंच में! □

उत्तर आधुनिक समाज में स्त्री-विमर्श

देवेंद्र चौबे

विचारधारा और साहित्य की दुनिया को पिछले तीन-चार दशकों में जिन विचारों ने प्रभावित कर रखा है, उनमें 'स्त्री' और 'दलित' विमर्श का महत्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों विचार चिंतन की दुनिया में अपने जन्म के कारण बनाई गई एक खास प्रकार की सामाजिक पहचान के खिलाफ विद्रोह की आवाज को बुलंद करते हैं तथा सामंती समाज और पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में अपने अस्तित्व के सवाल को पूरी ताकत के साथ उठाते हैं। खासकर सन साठ के दशक में जिस तेजी से विचारधारा की दुनिया में 'स्त्रियों' के सवाल को स्त्रीवादी पुरुषों के साथ ही स्वयं महिलाओं ने उठाया, उसका व्यापक असर समाज पर पड़ा तथा जूलिया क्रिस्तोवा, सिमोन द बोउवा, जर्मेन ग्रीयर जैसी स्त्रियाँ सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों की अस्मिता के सवाल को गंभीरता के साथ उठाते हुए उनकी पुरुषवादी पहचान से मुक्त कराने का प्रयास करती हैं।

इन स्त्रीवादी विमर्शकारों को सबसे बड़ी आपत्ति इस बात पर होती है कि आखिर क्यों स्त्रियाँ अपने 'वजूद' को पुरुष के साथ जोड़ने के लिए विवश है? *सेक्सुअल टेक्स्चुअल पालिटिक्स : फेमिनिस्ट लिटररी थ्योरी* में जूलिया क्रिस्तोवा के स्त्री संबंधी लेखों का विश्लेषण और मूल्यांकन करते हुए टोरिल मोई ने इस बात की ओर स्पष्टतः संकेत किया है कि समाज में स्त्री की अपनी कोई पहचान नहीं होती है- 'या तो वह अपनी माँ के नाम से पहचानी जाती है अथवा पिता के। बाद में उसकी पहचान पति या पुत्र से जुड़ जाती है।' (प्रकाशक : राऊटलींग, लंदन; संस्करण : 1988, पृष्ठ 165)।

यही कारण है कि स्त्री चाहकर भी अपने आप को पुरुष द्वारा प्रदत्त पहचान से मुक्त नहीं कर पाती है। दरअसल यह पुरुषों द्वारा संचालित एक ऐसी व्यवस्था और प्रक्रिया है जो स्त्रियों को प्रारंभ से ही एक 'वस्तु' समझते रहे हैं तथा जरूरत के हिसाब से उनका उपयोग करते हैं। स्त्रियों का दुर्भाग्य यह है कि जब परिवार अथवा समाज में जब कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेने का समय आता है तब वे चाहे कितनी भी महत्वपूर्ण स्थिति में क्यों न हों, पुरुषवादी समाज की यह कोशिश होती है कि उसकी उपस्थिति को नकारते हुए, उसे तथा उसके विचारों को हाशिए पर डाल दिया जाए।

इस कालावधि में 'स्त्री' अपने आप पूरे परिवार अथवा समाज के लिए

अजनबी हो जाती है तथा उसे ऐसा महसूस होता है कि परिवार अथवा समाज को अब उसकी जरूरत नहीं रह गई है। भारत, फ्रांस अथवा विश्व के अनेक भागों में हुए नारीवादी आंदोलनों की पृष्ठभूमि में पुरुषवादी समाज की यह मानसिकता ही उन्हें शेष समाज से लड़ने के लिए बाध्य करती है।

हाल ही में प्रकाशित राजेंद्र यादव की *आदमी की निगाह में औरत*, जर्मेन ग्रीयर कृत *विद्रोही स्त्री* और नूतन सिन्हा की *सांप्रदायिक दंगे और नारी* भारतीय समाज और विश्व परिदृश्य में स्त्रियों की इन्हीं उपर्युक्त स्थितियों पर विमर्श करती हैं। यद्यपि नूतन सिन्हा की पुस्तक एक खास सामाजिक-राजनीतिक और धार्मिक संदर्भ में स्त्रियों की मानसिकता, व्यवहार और धर्म तथा राजनीति के प्रति उनकी स्थिति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करती है परंतु उनका सारांश भी यही है कि सांप्रदायिक दंगे अपनी वीभत्सता में जिस समाज को ज्यादा खरोंच और मार्मिकता के साथ बाहरी एवं भीतरी तौर पर आहत करते हैं, वह स्त्री समाज ही है। चाहे वे बिहार के दंगे हों अथवा भारत के अन्य हिस्सों में हुए दंगे।

वास्तव में विश्व अथवा भारतीय समाज में 'स्त्री' शब्द और उसके अस्तित्व को लेकर प्रारंभ से ही दो तरह की धाराएं प्रचलित रही हैं- एक 'श्रद्धा' के रूप में और दूसरी 'वस्तु' के रूप में। यद्यपि पारंपरिक समाज में स्त्रियाँ 'श्रद्धा' के रूप में मान्य थीं किंतु, मुख्यधारा में निर्णायक स्थिति में वे कभी नहीं रहीं, परंतु आधुनिक समाज में तो उनकी स्थिति और खराब होती गई तथा पूंजीवाद के विकास और बाजार के वर्चस्व के कारण धीरे-धीरे वे 'वस्तु' में तब्दील होती गई। 'श्रद्धा' से 'वस्तु' के रूप में तब्दील होने की यह प्रक्रिया इतनी भयावह, पीड़ादायक और अपमानजनक रही है कि दलित चिंतक और समाज सुधारक ज्योतिबा फुले का वह कथन बार-बार ध्यान में आता है जिसे उन्होंने बहुत ही पीड़ा के साथ प्रकट किया था कि 'गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं।'।

इसलिए यदि जर्मेन ग्रीयर, सिमोन द बोउवा, जूलिया क्रिस्तोवा जैसी महिलाएं पुरुष समाज द्वारा स्त्री को सिर्फ लिंग के कारण महत्व देने और उस कारण उनका दमन करने का विरोध करती हैं तो कोई अनुचित कार्य नहीं करती हैं बल्कि पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्रियों की 'बेबस' तस्वीर का बयान करते हुए *विद्रोही स्त्री* की भूमिका में जर्मेन ग्रीयर लिखती हैं कि 'संसार की ज्यादातर औरतें अब भी डरी हुई हैं, अब भी भूखी, अब भी गूनी और धर्म द्वारा तमाम तरह की बेड़ियों से जकड़ी हैं, उनके चेहरे पर नकाबें हैं, मुंह पर गुहारें। उनके अंग भंग हैं, वे पिटी हुई हैं।'।

1. आदमी की निगाह में औरत : राजेंद्र यादव, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य : 200 रुपये

2. विद्रोही स्त्री : जर्मेन ग्रीयर, अनुवादक : मधु की जोशी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य : 200 रुपये

3. सांप्रदायिक दंगे और नारी : नूतन सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य : 450



विद्रोही स्त्री

जिम्मेदार

और ऐसा इसलिए है कि स्त्रियाँ अपनी जिंदगी के बारे में, अपनी आकृति-प्रकृति के बारे में और पुरुष द्वारा तमाम प्रतिरोधों के बावजूद किए गए जबर्दस्ती बलात्कार के विषय में चुप रहती हैं, चाहे वह बलात्कार उनके पति अथवा प्रेमी द्वारा ही क्यों न

किया गया हो। इसलिए जर्मेन ग्रीयर *विद्रोही स्त्री* के पहले अध्याय में बिना किसी झिझक के स्त्री की देह के बारे में बातें करते हुए लिंग, हड्डियाँ, गोलाइयाँ, केश, काम और कुलच्छनी कोख का वर्णन करती हैं।

इसी प्रकार वह दूसरे और तीसरे अध्याय में क्रमशः स्त्री की आत्मा की चर्चा करते हुए जहाँ उसकी रूढ़ छवि, ऊर्जा, शिशु रूप, लड़कीपन, वयःसंधि, कच्चा माल की छवि, उसकी शक्ति एवं कामकाज के बारे में बात करती हैं, वहाँ उसके 'प्रेम' की चर्चा करते हुए उसके आदर्श, परोपकारिता, अहम्पन्यता, सम्मोह, रोमांस, प्रेम और विवाह के मध्यवर्गीय मिथक, परिवार तथा सुरक्षा के स्वरूपों की बात करते हुए उन पर सवाल खड़ा करती हैं।

इस पुस्तक के अंतिम दोनों अध्याय 'घृणा' और 'क्रांति' पर हैं। घृणा के अंतर्गत जर्मेन ग्रीयर स्त्रियों के साथ वासना के बाद पुरुषों में आई घृणा और वितृष्णा के भाव की चर्चा करते हुए उन सच्चाइयों का बयान करती हैं जिनके कारण स्त्री, पुरुष देह की विकृतियों को न चाहते हुए भी सहने को मजबूर होती है। उदाहरण के लिए इस पाठ में एक जगह वह लिखती हैं कि 'स्त्री की रूढ़ छवि का विश्वव्यापी प्रभाव पुरुषों और स्त्रियों की स्त्री-घृणा में एकमात्र महत्वपूर्ण घटक है। जब तक स्त्री जैसी है वैसी ही, अपनी और अपने पुरुष की कल्पना से इस पुतली को निकाल बाहर नहीं करती, वह बिना शिकायत किए अपने पुरुष की तोंद, मस्से, सांस की दुर्गंध, गंजेपन, बड़ी दाढ़ी और तमाम बदसूरती को स्वीकार करती हुई क्षमा मांगती और अपना वेष बदलती रहेगी।' (पृ. 238)

स्पष्टतः स्त्री की यह एक ऐसी विवशता है जिससे उसको मुक्त होना आवश्यक है।

इस पाठ के अंतर्गत लेखिका स्त्रियों के विद्रोही स्वभाव की चर्चा करती है, उसके मन के अंदर उत्पन्न होने वाले विद्वेष का विश्लेषण करती है तथा उनके दुख और समाज में उनको लेकर रची गई गालियों का बयान करते हुए विद्रोही स्वभाव का चित्रण करती है।

अंतिम अध्याय 'क्रांति' में वह बताती है कि स्त्रियों के अंदर वह विद्रोह की भावना ही उनके लिए क्रांति का मार्ग प्रशस्त करती है। ग्रीयर का मानना है कि क्रांति के लिए जरूरी है कि स्त्रियाँ, पूँजीवादी राज्य में उपभोक्तावादी बनने से इंकार कर दें। ऐसा करके ही वह 'संबद्ध उद्योगों' को करारा

झटका दे सकती हैं। इसके साथ ही ग्रीयर जिस दूसरी महत्वपूर्ण बात को पाठक के सामने रखती हैं, वह यह कि 'सुधार' से स्त्री समाज की दशा सुधरने वाली नहीं है। कारण, 'सुधार प्रतिगामी है' (पृ. 49) और 'सुविधा संपन्न स्त्रियाँ-बाँह पकड़कर सुधारों की लड़ाई में उन्हें 'शामिल करना चाहेंगी।' (पृ. 299) जरूरी है कि जब 'कड़वाहट' भरी स्त्रियाँ विद्रोह के लिए पुकारें, तब वह उनमें शामिल हों।

यहाँ ग्रीयर ऐसी स्त्रियों से एक छोटा-सा सवाल करती हैं कि क्या वे (स्त्री) इस विद्रोह में स्त्रियों का साथ देंगी? 'आप क्या करेंगी?' (पृ. 299)

यह एक ऐसा सवाल है जो आज की स्त्री के सामने एक बहुत बड़ी चुनौती और विकल्प के रूप में भी खड़ा है। क्योंकि पुरुष-समाज द्वारा लिंग के कारण बनाई गई उनकी स्त्रीत्व की छवि से कोई दूसरा उन्हें मुक्त नहीं करेगा, वरन उन्हें ही मुक्ति की राह तलाशनी होगी।

जर्मेन ग्रीयर की तुलना में राजेंद्र यादव *आदमी की निगाह में औरत* में स्त्री के सवाल को एक पुरुष की निगाह से उठाते हैं। 'तेरी मेरी उसकी बात' के तहत हंस और अन्यत्र लिखी गई अपनी टिप्पणियों और लेखों में राजेंद्र यादव स्पष्टतः कहते हैं कि 'सच तो यह है कि हमारे सारे परंपरागत सोच में नारी को दो हिस्सों में बाँट दिया गया है। कमर के ऊपर की नारी और कमर के नीचे की औरत।' पुरुष समाज की इस दृष्टि की चर्चा करते हुए वह आगे लिखते हैं कि 'हम पुरुष को उसकी संपूर्णता में देखते हैं, उसकी कमियों और कमजोरियों के साथ उसका मूल्यांकन करते हैं। नारी को हम संपूर्णता में नहीं देख पाते। कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है, करुणा भरी है, सुंदरता और शील की देवी है, वह कविता है, संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है। कमर से नीचे वह काम-कंदरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है।' (पृ. 14)



स्पष्टतः आदमी की निगाह में औरत की यह एक ऐसी छवि है, जिसे वह अपने (पुरुष) से भिन्न लिंग में जन्म लेने के कारण निर्मित करता है। 'भय' और 'घृणा' जैसे मूलभूत तत्वों से बनी नारी की यह धारणा ऐसी है कि पुरुष का 'उसके साथ रहे बिना कोई चारा नहीं है।' (पृ. 14)

इसीलिए चाहे वह साहित्य हो या समाज-बिना नारी के उसकी परिकल्पना नहीं की जा सकती है। 'विमर्श' और 'लेखन' जैसे दो हिस्सों में बंटी इस पुस्तक में राजेंद्र यादव ने भारतीय समाज और साहित्य में नारी की छवि की चर्चा और उसके मनोभावों, सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक स्थितियों एवं 'दलित' से उनकी तुलना करते हुए बार-बार इस सत्य को प्रकट किया है कि 'जिस तरह एक दलित को जन्म और जाति के अपमान से निरंतर गुजरना पड़ता है या अल्पसंख्यक को बाहरी होने के देश को झेलना पड़ता है उसी तरह न जाने कितनी यंत्रणाएँ हैं जिन्हें सिर्फ स्त्री ही भोगती है। मासिक धर्म, प्रजनन, बलात्कार, परिभरता जैसे न जाने कितने अनुभव हैं जिन्हें स्त्री के सिवा कोई नहीं जानता।' ('सदी का औपन्यासिक अंत', पृ. 167-168)

यह कितनी बड़ी विडंबना है कि दलितों की तरह यह स्त्री न तो अछूत है और न ही मासिक धर्म की अवधि को छोड़कर अपवित्र। वह कहीं भी जाने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन वे वहाँ आकर दलितों के साथ खड़ी हो जाती हैं जहाँ भारतीय समाज में ऐतिहासिक काल में ही पवित्रता और उत्कृष्टता जैसी दीवारें उन्हें मुख्यधारा की निर्णायक स्थितियों से वंचित करने लगती हैं। तब लेखक के शब्दों में उन्हें लगता है कि वे इस 'संवेदनहीनता, छद्म और आडंबर की शिकार रही हैं।' ('हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण'; पृ. 81)

और जाहिर है, इसके पीछे उन पुरुषों की भूमिका होती है जो राष्ट्र, राज्य, धर्म, संस्कृति आदि का सहारा लेकर अपनी सत्ता और वर्चस्व को बचाए रखना चाहते हैं क्योंकि राष्ट्र की अखंडता और एकता बचाना- एक तरह से देश बचाने जैसा ही है। इसलिए जब नारी पुरुष की सत्ता के खिलाफ विद्रोह करती है तो उसका एकमात्र लक्ष्य होता है- पुरुष के वर्चस्व से मुक्त होना। कभी-कभी उनके इस प्रयास को सभ्य पुरुष समाज नैतिकता से जोड़कर स्त्री का दमन करना चाहता है। राजेंद्र यादव ने लिखा है कि पारंपरिक भारतीय समाज में पुरुष के इस वर्चस्व से मुक्ति पाने के लिए वे या तो अपनी भावनाओं को धार्मिक मुहावरों में अभिव्यक्त करती हैं अथवा पुरुषचली और वेश्या बनकर जीवन यापन करने लगती हैं। परंतु दोनों स्थितियों में उन्हें समाज-व्यवस्था से बाहर जाना पड़ता है।

राजेंद्र यादव की इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह समाज में स्त्रियों की इस दशा का विवेचन करते हुए हिंदी साहित्य में 'महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, इस्मत चुगताई, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, मुदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, कात्यायनी, जया जदवानी जैसी उन महिला लेखिकाओं के लेखन पर टिप्पणी करते हैं जो अपने साहित्य में नारी अस्मिता के सवाल को उठाते हुए पुरुष-वर्चस्व का विरोध करती हैं।



वास्तव में विद्रोही स्त्री और आदमी की निगाह में औरत समाज में सदियों से नारी की बनी हुई छवि का चित्रण करते हुए पुरुष के वर्चस्व का निषेध करती हैं। खासकर जर्मन ग्रीयर की पुस्तक स्त्री के बारे में बनी हुई इन धारणाओं का भी खंडन करती है जिसे नैतिकता का आवरण देकर पुरुष समाज सदियों से उन्हें छलता आया है। गहन बौद्धिकता और तीक्ष्ण बुद्धिमता से लिखी और हिंदी में मधु बी. जोशी द्वारा अनूदित यह पुस्तक इतिहास, साहित्य और स्त्रियों के बारे में लोक में प्रचलित धारणाओं को केंद्र में रखकर समाज में उनकी उपस्थिति दर्ज करती है और इस बात की ओर संकेत करती है कि बिना विद्रोह के क्रांति संभव नहीं है। विद्रोही स्त्री ही स्त्री-समाज को पुरुषों की सत्ता से मुक्त करेंगी।

इन दोनों पुस्तकों की तुलना में नूतन सिन्हा की सांप्रदायिक दंगे और नारी एक खास परिस्थिति में स्त्री की दशा का बयान करती है परंतु

कहीं-न-कहीं वह यह भाव भी जरूर रखती है कि इन दंगों में सबसे अधिक आहत स्त्रियाँ ही होती हैं। यह एक महत्वपूर्ण सच्चाई है। इसमें संदेह नहीं कि आज के उत्तर आधुनिक समाज में ये पुस्तकें स्त्री-विमर्श के नए आयामों से हमारा परिचय कराती हैं तथा हिंदी समाज के सामने अनेक ऐसी सच्चाइयों का बयान करती हैं, जिन पर हम धर्म, संस्कृति, राष्ट्र, नैतिकता आदि के कारण बहस अथवा विमर्श करने से परहेज करते हैं। □

प्राप्ति सूचना

मुट्ठी में बंद तूफान (कहानी संग्रह) : अनिन्दिता; अनुराग प्रकाशन, चौक, वाराणसी-1; मूल्य : 95 रुपये

सच कहीं से निकलकर नहीं आया (कविता संग्रह) : दिनेश नन्दिनी; हिंदी बुक सेंटर, 4/5-बी, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-2; मूल्य : 120 रुपये

कबाड़ी का तराजू (कविता संग्रह) : निर्मला गर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-51; मूल्य : 125 रुपये

आदिभूमि (उपन्यास) : प्रतिभा राय; हिंदी रूपांतर : शंकर लाल पुरोहित; भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंडस्ट्रीयूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली - 3; मूल्य : 250 रुपये

यह खबर नहीं (उपन्यास) : कमल कुमार; अखिल भारती, 3014, चर्खे वालान, दिल्ली-6; मूल्य : 150 रुपये

पीछा करने वाली आवाज (कहानी संग्रह) : दिनेश नन्दिनी; नेशनल पब्लिशिंग हाउस; 2/35 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002; मूल्य : 150 रुपये

शिल्प का अतिशय आग्रह

यह कहानी नहीं : राजी सेठ; भारतीय ज्ञानपीठ 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली-110 003; मूल्य : 85 रुपये

राजी सेठ का कहानी-संग्रह *यह कहानी नहीं* कुल दस कहानियों का संग्रह है, जो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है। इन कहानियों में कथा-तत्व कुछ कम जरूर है लेकिन इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि 'यह कहानी नहीं'....। इन कहानियों में मन की गांठें अधिक अच्छी तरह खुलती हैं- समाज की गांठें कम!

जैसा कि मन की अभिव्यक्ति करने वाले कथाकारों के साथ प्रायः होता है- समाज पूरी तरह गायब होता है- ऐसा राजी सेठ के यहां नहीं है। इनकी कहानियों में समाज है, भले ही शहरी मध्यवर्गीय समाज- भय खाता, अकेला जीता। चाहे 'बाहरी लोग' की वह वृद्धा हो या फिर 'इन दिनों' का वह वृद्ध! शहरों में अकेलापन ऐसे लोगों की नियति बन गई है। तिस पर दिन दहाड़े घर में घुसकर हत्या कर देने वालों का भय अलग से।...

'बाहरी लोग' की वृद्धा और 'इन दिनों' के वृद्ध का अकेलापन कुछ-कुछ समझ में भी आता है, लेकिन पत्नी और पुत्री के रहते कोई पुरुष किस तरह 'बुत' में बदल सकता है, यह 'बुत' कहानी के पुरुष को देखकर जाना जा सकता है। वैसे इस कहानी में 'बुत' पुरुष ही नहीं, 'स्त्री' भी है। फिर अमेरिका में पढ़ने वाली उनकी लड़की 'बुत' होने से कैसे बच सकती थी? आखिर इस घर के प्रत्येक सदस्य के बुत में बदलने का कारण क्या है? पुरुष के किसी-न-किसी बहाने घर से बाहर रहने की इच्छा को देखकर कयावाचिका का मानना है कि 'ये बुत इनके ही गढ़े हुए हैं, लेकिन कहानी में जो शुष्कता और ठंडापन है वह स्त्री के स्वभाव से झलकता है, पुरुष के स्वभाव से नहीं। इस कहानी की यह कमी है कि यह सिर्फ स्थिति को दिखाने का काम करती

है, इस स्थिति के पैदा होने के लिए जिम्मेदार कौन है, इसका जवाब देने से कहानी परहेज ही करती है। और कहानी पढ़ने के बाद खामखां सारा दोष स्त्री के माथे मढ़ देने का मन करने लगता है।

राजी सेठ सूक्ष्म कहानियां लिखती हैं, लेकिन इतनी सूक्ष्म कहानियों का भी क्या औचित्य कि कहानी खुलने के बदले बंद ही होती जाए?...।

लेखिका ने इस पुस्तक की भूमिका में स्वीकार किया है- 'बचपन से ही मेरी मानसिकता में किसी-न-किसी रूप में मृत्यु का हस्तक्षेप रहा। एक अनजाना अमूर्त डर पल-पल साथ सांस लेता रहा।' यही कारण है कि उनकी अनेक कहानियों में मृत्यु है या मृत्यु भय। संग्रह की पहली और अंतिम कहानी करीब-करीब एक ही स्थिति पर है। कोई मां-बाप अपने पुत्र की असामयिक मृत्यु से टूटा हुआ है लेकिन अपने दुख को विस्तृत कर लेता है और औरों को सुखी बनाने का प्रयास करता है। सड़क दुर्घटना में मरे अपने बेटे के दुख से टूटे हुए कर्तार सिंह को जब उसी चौराहे पर 'पुल' बनाने का कांट्रेक्ट मिलता है तब वह सन्न रह जाता है। लेकिन सैकड़ों जाने बचाने हेतु उस निर्माण से पीछे नहीं हटता।

इसी तरह 'यह कहानी नहीं' के अंकल अपने बच्चे की स्मृति में स्कूल खोलकर अपने दुख को समाज से मिला देते हैं।... दिल्ली में विगत वर्षों में घर घुसकर वृद्धों की हत्याओं की जो घटनाएं घटी हैं और इस वजह से अकेले रहने वाले वृद्धों में जो असुरक्षा का भाव और मृत्यु-भय व्याप गया है, इसकी अनुगूंजें भी कई कहानियों में सुनाई पड़ती हैं।

यह नितांत सच है कि कोई महिला लेखिका महिलाओं की समस्याओं पर अधिक गहराई से लिख

सकती है और पुरुष मानसिकता को बेहतर ढंग से बेनकाब कर सकती है।

'अकारण तो नहीं' में राजी सेठ ने ऐसा ही किया है। स्त्री को बांझ ठहराकर दूसरा विवाह कर लेना हमारे पुरुष प्रधान समाज का 'मौलिक अधिकार' रहा है। लेकिन अगर कमी पुरुष में हो, तो?...तो भी स्त्रियां उस कलंक को अपने माथे लेकर पुरुष की 'इज्जत' बचाने का काम करती हैं, जैसे कि दीपाली। लेकिन जब पानी हृद से गुजर जाता है तब लौटकर न आने के पनपते इरादे को साथ लिए वह मायके जाने की दिशा में सोचने लगती है।

इसी तरह की एक स्त्री है चिक्की। ('मैं तो जन्मा ही' कहानी) उन्मुक्त स्वभाव की, इसलिए गलत समझी जाने वाली 'चालू'!... यानी अभी तक हमारा समाज एक स्त्री को उन्मुक्त भाव से व्यवहार करते नहीं देख सकता।

संग्रह की बाकी कहानियों में 'पासा' स्वार्थ के कारण उलटने वाले पासे का बयान करती है तो 'परतें' व्यक्ति के अंदर छिपे वासना के 'कीटाणु' का!... यह कौन जानता है कि सदा रक्षक भाव में रहा कोई 'इंद्रजीत' रामरिख मिश्रा कब किसी तिन्नी का पीछा करने लग जाएगा और सदा भक्षक भाव में रहा कोई पुलिसिया उस तिन्नी के लिए पिता के समान आश्वस्तकारी हो जाएगा?... मनुष्य के मन में कितनी 'परतें' होती हैं और समय-समय पर ये परतें कैसे ऊपर-नीचे होती रहती हैं, यह इस कहानी में देखा जा सकता है।

यानी, कुल मिलाकर देखें तो संग्रह की कहानियों में मन के कई भाव परिलक्षित होते हैं- प्रेम, वासना, अकेलापन, मृत्यु-भय इत्यादि। लेखिका ने इन्हें पकड़ा भी ठीक ढंग से है। लेकिन इसके बावजूद कोई कहानी बहुत 'बड़ी' कहानी नहीं बन पाई है। कारण शायद यह है कि एक तो इन कहानियों का कथानक बहुत अलग नहीं है और न ही मन के ऐसे भाव ही पकड़े गए हैं जो अछूते हैं।

एक तरह से ये कहानियां रूटीन कहानियां ही कही जाएंगी- बड़े कहानीकारों से जबकि अलग तरह की कहानियों की उम्मीद की जाती है। फिर शिल्प के प्रति अतिशय आग्रह- चुप-चुप-सी कहानियां, दार्शनिकता का बोझ लिए हुए, पाठकों को अपनी गिरफ्त में भी नहीं ले सकतीं। परिणामतः इन कहानियों को पढ़ने में थोड़ा 'श्रम' करना पड़ता है। जाहिर है, यह कहानियों का गुण तो नहीं ही माना जा सकता।

- संजीव ठाकुर

कोलंबस की यात्रा

पृष्ठ 20 से आगे

अरण्य की गंध! क्या वे जान गई थीं कि यह देह अब अंतिम कगार पर है? मिट्टी होने जा रही है... जैसे चीटियों के पर निकल आते हैं शायद मानव-शरीर अंत में अपनी गंध बदल लेता हो...मृत्यु की ओर जीवन-यात्रा का आखिरी पड़ाव बताने के लिए।

वह स्नान अंतिम स्नान था मां का। बाई बांह के वे घाव तो कानन को दिखे थे, पर उन घावों का क्या जो समय ने कुतरकर बना दिए थे जगह-जगह मां के मन-प्राणों पर! प्राण होंते ही कितने हैं...चिड़िया के पंख जितने...कहती थी मां। और प्राण वे सभी

झाव खुद में समाए छोड़ गए थे देह को निष्प्राण। उन प्राणों को अंतिम स्नान कैसे कराती कानन!

एक झटके के साथ गाड़ी में अचानक ब्रेक लग गए! सड़क के बीचों-बीच खड़ी गाड़ी में कानन ने पाया कि उसकी हथेलियां नीली हो गई हैं। पर वह इस ठंड में भी भीतर तक पसीनों से तर है। उसकी कनपटियां गर्मी-सी छोड़ने लगी थीं बाहर की ओर। सीने में बाईं ओर कहीं गहरे रह-रहकर कुछ चटखने लगा था।

मां की निष्क्रिय देह नौ साल तक निष्क्रिय रही, निस्तरंग। पर मन...मन का वेग भी क्या थमा होगा? कैसा महसूस करती होगी वह दिन-रात भीतर के अंधलोक में, लक्ष्यहीन राहों पर भटकते रहना? उस

अंधलोक में क्या देखती होगी वह? अपने मन, प्राण व आत्मा के स्रावों का आलोक?

प्रस्तुत रूप से मां निष्क्रिय रही...सिर्फ नौ साल, मगर उससे पहले क्या उसी देह ने तिरस्कार व परित्याग के बाद कामना नहीं की होगी असंख्य बार निष्क्रिय हो जाने की?...अपने उसी वेगवान मन के हाथों। जीवन क्या कभी उसे वेदना का बालसखा-सा नहीं दिखा होगा? शायद...इस पीड़ा-भार ने उसे मुक्त नहीं तो कम से कम विरक्त तो किया ही था मोह से...जीवन के मोह से...उस पीड़ा-देवी की अनुकंपा से वह जान पाई होगी मर्म...खुद त्यागने का। □

[शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास 'तनू किन्नु' का अंश]

पत्र

पृष्ठ 5 से आगे

चाहकर भी नहीं टूट पाते। वही 'बिकाऊ फ्लैट' में मुख्यतः स्त्री के मनोभाव व्यक्त हुए हैं। स्पष्ट झलक जाता है कि कोई स्त्री किस तरह एक पुरुष को बुद्ध बना सकती है, जब दोनों ही लालची और चालाक हों।

-जीतेंद्र राम, दरभंगा

पूरी धरती गीतमय

● प्रदीप पंत ने हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार स्व. वीरेंद्र मिश्र की नवीनतम पुस्तक *अंतराल* के बहाने इस जीवंत गीतकार की रचना यात्रा पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस सार्थक विवेचन से यह तथ्य और पुष्टा होता है कि जिस हिंदी कविता का उदय ही गीत से हुआ हो वह गीत से इतर कुछ भी नहीं है। तब तो इस अंक में प्रकाशित कैलाश नाथ द्विवेदी के दोहों को भी आपने गीत की श्रेणी में ही लिया है। अब तो तुलसी का सारा साहित्य, कबीर का पूरा बीजक, सूर की पूरी पदावली तथा विद्यापति के पूरे पद सब-के-सब गीत ही तो हैं। वीरेंद्र मिश्र के शब्दों में यह पूरी

सृष्टि गीतांबरा है पूरी धरती गीतमय है- सौर मंडलों की है सुंदरतम

अप्सरा / ये धरती अपनी गीतांबरा।

पराग जी का एक गीत 'भोर जगी कलियां' काफी पुराना गीत है। यह बात अलग है कि कोई भी इस तरह की रचना पुरानी नहीं होती। प्रस्तुत गीत भी अपने आकर्षक कथ्य की मोहकता और समय संदर्भ की ताजगी की नवीनता से विमोहित कर गया।

-उदय शंकर सिंह उदय, मुजफ्फरपुर

इतने लंबे पत्र

● मुझे समझ में नहीं आ रहा कि आखिर आप क्यों इतने लंबे-लंबे पत्र प्रकाशित करते हैं। यदि प्रतिक्रिया स्वरूप आए पत्रों को इस स्थिति में रखा जाए कि एक पत्र कम शब्दों में व्यक्त हो तो यह निश्चित है कि आप जितना स्थान इस निमित्त सुरक्षित रखते हैं उसमें और कई पाठकों की प्रतिक्रियाएं समाहित हो जाएंगी जिनसे अन्य पाठकों की भी जानकारीयों में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। हालांकि मैं पत्रिका के जनवरी अंक की प्रतिक्रिया के रूप में इस पत्र को नहीं लिख रहा परंतु फिर भी मैं यह तो कह ही सकता हूँ कि प्रकाशित

सामग्री का स्तर साहित्यिक विचारों से जुड़े एक खास वर्ग से नीचे आम जनता तक लाना चाहिए

ताकि अच्छी पत्रिका का संपूर्ण रूप से रसास्वादन सभी कर सकें।

-राकेश कुमार सिंह, धनबाद

सहयोगी रचनाकार

चित्रा मुद्गल : बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110 091

मृदुला जुगजान : रीडर, हिंदी विभाग, हेमवतीनंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, गढ़वाल (उत्तरांचल)

हेमा देवराजनी : 59, बालमंदिर कालोनी, सवाई माधोपुर-322 001 (राजस्थान)

मृण्मय उपपाध्याय : वृंदावन, राजेंद्र पथ, धनबाद-826 001

सुधीर शाह : परमेश्वरी भवन, खजौंची मुहल्ला, अल्मोड़ा (उत्तरांचल)

संजीव ठाकुर : टी.एन.बी. कालेज, भागलपुर-512 007 (बिहार)

आरती वर्मा : श्री रामकृष्ण महिला महाविद्यालय, न्यू बरगंडा, गिरिडोह- 815 301

रमणीला कोपी : प्रचार्य, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी,

एरनाकुलम- 683 547 (केरल)

मीरा छांत : बी-95, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-110 049

विकास द्विवेदी : एफ-185ए, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110 092

गोपालनाथ नागर : 26/16ए चौखंडा, वाराणसी- 221 001 (उ.प्र.)

पंकज फराख : द्वाप जगदीश झा, मोहनपुर, बलवाहाट, चंपारन कोठी- 852 106

सहरसा (बिहार)

पुष्पिता : बी-3/12 अन्नपूर्णा नगर कालोनी, काशी विद्यापीठ रोड,

वाराणसी- 221 002

बालरत्नरूप राठी : एफ 8/7 माडल टाउन, दिल्ली-110 009

जसविंदर शर्मा : 5/2 डी, रेल विहार मंसदेवी कॉलेक्स, पंचकुला- 134 109

मनसा उपपाध्याय : आकाशवाणी राहडोल, पाली रोड, राहडोल- 484 001

कविता : द्वाप राकेश बिहारी, ग्रामसन प्रेस (इंडिया) लि., बी11/12 एन.ई.पी.जेड,

नौएडा-201 305

सुधांत सुपुष्य : ए-7, गुरुनाक देव वि.वि. परिसर, अमृतसर- 143 005 (पंजाब)

रंजना सिंह : मसोदा (पैदाही) अंबेडकर नगर- 224 183 (उ.प्र.)

देवेन्द्र चौबे : वार्डन फ्लैट नं. 03, पेरिपार हास्टल, दक्षिणापुरम, जवाहरलाल नेहरू

विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- 110 067

संजीव ठाकुर : हिंदी विभाग, टी.एन.बी. कालेज, भागलपुर-512 007

मनीष वर्मा : 63 महावत खां रोड, नई दिल्ली-110 002

बावजूद

अंगुलिमालों के बावजूद
लड़की की उंगली बीच
कलम की जगह होते हैं शब्द
रक्त धार से बहते
पोरों से उतरते- स्पंदित
तरंगित
रक्तिम
दीपित- तपे हुए शब्द
जीवन से जूझते
जर्जर जिंदगी के लिए जुझारू- शब्द
संवेदनाओं की सांसों की भट्टी में
सुलगते-पकते
कुम्हार के गढ़े-ढले हांडी से शब्द
जिसमें खदबदाता पकता है
वास्तविक भूख का अनाज

अंगुलिमालों के बावजूद
लड़की की
आंखों की सीध में
होता है- खुला आकाश उजले पन्ने-सा
सांसों का आलेखपत्र
कल का कैनवास
आंखों की स्वानुभूति से
जिंदगी के पक्ष में
संतान की पक्षधर बन

अंगुलिमालों के बावजूद
लड़की
छाती में उपजे
शब्दों को सहेजे
अपने रक्त में
संजोती है- आग
जैसे- जंगल बीच आग
धरती भीतर आग
सागर भीतर आग
बादल बीच आग

अंगुलिमालों के बावजूद
लड़की
देह को जीती है

आग की तरह
ब्रह्मांड का जैसे हो कोई नक्षत्र
कभी न टूटने वाला
अंगुलिमालों के बावजूद
तर्जनी-सी उठती है लड़की !

लड़की

लड़की
जीती है- एक खामोश जिंदगी
लड़की
खाती है रोटी में घुटन
लड़की
पीती है पानी में विवशता
लड़की
देखती है दूध
कि जैसे दूधिया बचपन

लड़की
देखती है हकीकत- खामोशी से
लड़की
जान जाती है धीरे-धीरे
हकीकत के विरुद्ध
मुंह खोलने की सजा
लड़की
देखती है ख्वाब- खामोशी से
लड़की
सांस लेती है- खामोशी से
कोई सूँघ न ले उसमें
आजादी की सुगंध
लड़की
भयानक शोर के विरुद्ध
बनी रहती है- खामोश चुप
क्योंकि
जानती है-
शोर के शब्द नपुंसक होते हैं
नपुंसक आदमी की तरह !

सरसोई सीजी सांझ में
देख रही थी तुम्हारे हाथों में
जैसे कि हृदय की हथेली में
विश्राम से बैठी अपनी हथेली के चैन को
और रेखाओं की आंखों में उड़ते
रेशमी रंगीन भविष्यत् स्वप्न को

सन्नाटे की निःशब्द गूँज में
भविष्य के लिए मचलते आतुर शब्द
रचते हैं- पूरा वाक्-संसार
संबंधों की संवेदनाओं का
सारे भेद अस्तित्वहीन होकर
तिरोहित हो जाते हैं
अनपहचाने अजनबी शब्द
सहमते और सिसकते हैं
तुम्हारे स्पर्श के
आत्मीय मौन में
कि जैसे रंग डूबी तूलिका ने
रेखाओं की लिपि में उकेरा हो- अबूझ कुछ
देहांश के एक कोने में उस क्षण
कोंपल-सी कोमल हो आई थी अनुभूति
जल-सी तरल रिस आई थी संवेदना
कांच-सा पारदर्शी था स्पर्दन
जिसमें प्रतिबिंबित थी
तुम्हारी आत्मा...आत्मा का प्रेम
प्रेम का सर्वस्व समर्पण
जैसे भीतर के मरुस्थल में दबा पड़ा कोई बीज
अपनी पहचान बनाता
अंकुरित हो आया हो
स्नेह-स्पर्श से
सार्थक हो आई काया ने
एक नाम दिया था- उस क्षण
हथेलियों में
उपला आई गहरी आत्मीय अनाम आस्था को
जैसे- गांव की अबोध स्त्री
देववृक्ष तले
रख सुचिक्कण पथराया खंड
अभिषेक कर
घोषित करती है- यह है शिव
यह है मेरा भगवान !

डाक तार पंजीयन सं. डी.एल./12035/2001 बिना पूर्व भुगतान के डी.पी.एस.ओ. दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी.एन.)-49/2001 प्राप्त

Postal Regn.No./DL/12035/2001

Licensed U(DN)-49/2001 to post without pre-payment of DPSO, Delhi

दिल्ली डाक

Delhi Postal

• आर.एन. 701/57

• R.N. 701/57



सुरिन्द्र कौर, निदेशक, प्रकाशन विभाग द्वारा पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 से प्रकाशित एवं मुद्रित तथा आकाशदीप प्रिन्टर्स, 20 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 में मुद्रित : संपादक : सुभाष सेतिया